(क) सामान्य अभिक्षमता परीक्षण तथा

(ख) विशिष्ट अभिक्षमता परीक्षण।

इन दोनों परीक्षणों का वर्णन निम्नांकित हैं :

8.5.3 सामान्य अभिक्षमता परीक्षण

सामान्य अभिक्षमता परीक्षण वैसे परीक्षण को कहा जाता है जिसके द्वारा छात्रों की अभिक्षमता किसी एक विशिष्ट क्षेत्र में नहीं बल्कि कई ऐसे विशिष्ट क्षेत्रों की अभिक्षमताओं का मान एक साथ हो जाता है। इसलिए ऐसे अभिक्षमता परीक्षण को बहुअभिक्षता कहा गया है। ऐसे तो बहुअभिक्षमता परीक्षणमाला कई हैं, परन्तु उनमे निम्नलिखित मुख्य हैं :

1. शाब्दिक चिन्तन
2. संख्यात्मक क्षमता
3. अमूर्त चिन्तन
4. दैशिक चिंतन
5. यांत्रिक चिन्तन
6. लिपिक गति और परिशुद्धता
7. वर्तनी
8. व्याकरण

8.5.4 विशिष्ट अभिक्षमता परीक्षण

विशिष्ट अभिक्षमता को परीक्षण वह परीक्षण होता है जिसके द्वारा किसी एक ही तरह की अभिक्षमता की माप की जाती है। ऐसे परीक्षण को एक कारक अभिक्षमता परीक्षण भी कहा जाता है। ऐसे प्रमुख परीक्षण निम्नांकित हैं :

1. यांत्रिक अभिक्षमता परीक्षण–यह परीक्षण यांत्रिक अभिक्षमता को मापता है तथा इसे मिनेसोटा विश्वविद्यालय में 1930 ई० में बनाया गया था।

2. संगीत अभिक्षमता परीक्षण–यह परीक्षण छात्रों की संगीत अभिक्षमता मापने का सबसे पहला परीक्षण है। इसके द्वारा चौथे वर्ग के छात्रों तक की संगीत अभिक्षमता का मापन होता है।

३. लिपिक अभिक्षमता परीक्षण–यह परीक्षण भी सिर्फ लिपिक अभिक्षमता को मापने का परीक्षण है। इस परीक्षण द्वारा लिपिक अभिक्षमता के निम्नांकित पहलुओं को मापा जाता है–

(क) अंकगणितीय समस्या

(ख) हिज्जे

(ग) शब्द का अर्थ

(घ) भाषा प्रयोग जिसमें व्याकरण भी सम्मिलित हो

(ङ) पढ़कर समझना।

4. वैज्ञानिक अभिक्षमता परीक्षण–यह परीक्षण बिहार में ही ए० के० पी० सिन्हा एवं एल० एन० के० सिन्हा द्वारा निर्मित किया गया है। इस परीक्षण द्वारा कॉलेज के छात्रों की वैज्ञानिक अभिक्षमता को मापा जाता

है। इस परीक्षण में एकांश हिन्दी भाषा में हैं तथा इसका मानकीकरण कॉलेज के 592 छात्रों पर किया गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि अभिक्षमता मापने के लिए कई तरह के अभिक्षमता परीक्षण उपलब्ध हैं। इन अभिक्षमता परीक्षणों में अपने उद्देश्य के अनुसार शिक्षक एक या एक से अधिक परीक्षणों को चुनकर छात्रों की अभिक्षमता का मापन करते हैं।

8.5.5 शिक्षा में अभिक्षमता परीक्षण की उपयोगिता

शिक्षा के क्षेत्र में बुद्धि परीक्षण के समान अभिक्षमता परीक्षण की भी काफी उपयोगिता बताई गई है। इसकी कुछ प्रमुख उपयोगिताओं का वर्णन निम्नलिखित हैं :

1. अभिक्षमता परीक्षण द्वारा अभिक्षमता का मापन करके शिक्षक उत्तम अन्त:शक्ति वाले छात्रों का चयन कर लेते हैं। ऐसा करके वे उनके लिए अलग से पाठ्यक्रम तैयार करके उन्हें उपर्युक्त शिक्षा दे पाते हैं।

2. अभिक्षमता परीक्षण द्वारा छात्रों की समस्याओं का निदान किया जाता है। जैसे पठन अभिक्षमता परीक्षण का प्रयोग कर शिक्षक आसानी से इस बात की पहचान कर लेते हैं कि किस छात्र में तथ्यों को पढ़ने एवं उसे समझने की अभिक्षमता की कमी है तथा किस छात्र में यह अभिक्षमता प्रचुर मात्रा में है।

3. अभिक्षमता परीक्षण का प्रयोग शिक्षकों एवं स्कूल परामर्शदाताओं द्वारा कुछ विशेष क्षेत्रों जैसे कला, चिकित्साशास्त्र आदिमें छात्रों को पुनर्निवेशन प्रदान करने के लिए भी किया जाता है। इस तरह के पुनर्निवेशन के आधार पर स्वयं ही यह निर्णय ले पाते हैं कि उन्हें अमुक कार्यक्रम में भाग लेना चाहिए या नहीं।

4. अभिक्षमता परीक्षण के आधार पर शिक्षक भविष्य में अमुक विषय या क्षेत्र में छात्रों के निष्पादन के बारे में पूर्वानुमान लगा पाते हैं।

5. अभिक्षमता परीक्षण का प्रयोग कर शिक्षक छात्रों का श्रेणीकरण कर पाते हैं तथा उसी के अनुसार उनका नियोजन करने में मदद मिलती है।

इस तरह हम देखते हैं कि अभिक्षमता परीक्षण शिक्षकों एवं छात्रों के लिए बुद्धि परीक्षण के समान ही काफी उपयोगी है।

8.6 उपलब्धि परीक्षण (Achievement Test)

8.6.1 उपलब्धि परीक्षण का अर्थ

छात्रों के निष्पादन को जाँचने की कई मनोवैज्ञानिक विधियाँ हैं जिसमें एक प्रमुख विधि उनके निष्पादन को किसी मनोवैज्ञानिक परीक्षण के सहारे मापना या जाँचना है। उपलब्धि परीक्षण एक ऐसा ही मनोवैज्ञानिक परीक्षण है। प्राय: ऐसे उपलब्धि परीक्षण मानकीकृत होते हैं, अत: इस तरह के उपलब्धि परीक्षण को मानकीकृत उपलब्धि परीक्षण भी कहा जाता है।

उपलब्धि परीक्षण द्वारा किसी निश्चित कार्यक्षेत्र में छात्रों द्वारा अर्जित किए गए ज्ञान एवं कौशल को मापा जाता है। गे (1980) के शब्दों में उपलब्धि परीक्षण को इस प्रकार परिभाषित किया जाता है–

''उपलब्धि परीक्षण द्वारा ज्ञान या कौशल के किसी विशेष क्षेत्र में व्यक्ति की अर्जित निपुणता की वर्तमान स्थिति की माप होती है।''

सेक्स (1974) के अनुसार, ''मानकीकृत शैक्षिक उपलब्धि परीक्षण द्वारा पाठ्यचर्या क्षेत्र, जो अधिकतर स्कूल में सामान्य है, में छात्रों के शिक्षण की मात्रा को मापा जाता है।'' फ्रीमैन (1965) के अनुसार, ''शैक्षिक

उपलब्धि परीक्षण ऐसा परीक्षण है जिसके द्वारा कोई विशिष्ट विषय या विषयों के समूह में अर्जित किए गए ज्ञान, बोध या कौशल की माप होती है।''

8.6.2 उपलब्धि परीक्षण के प्रकार

शिक्षा के दृष्टिकोण से उपलब्धि परीक्षण को निम्नांकित तीन भागों में बाँटा गया है–

(क) नैदानिक उपलब्धि परीक्षण

(ख) विशिष्ट विषय-वस्तु संबंधी उपलब्धि परीक्षण

(ग) उपलब्धि परीक्षणमाला

इन तीनों का वर्णन इस प्रकार है–

(क) नैदानिक उपलब्धि परीक्षण–नैदानिक उपलब्धि परीक्षण वैसे परीक्षण को कहा जाता है जिनके परिणामों या प्राप्तांकों के आधार पर शिक्षा मनोवैज्ञानिक छात्रों के उन विषय क्षेत्रों का पता लगाते हैं जिनमें उन्हें अधिक कठिनाई होती है या जिनमें उनका निष्पादन विशेष समस्या के कारण दबा हुआ होता है। ऐसे परीक्षण का निर्माण उन विशेषज्ञों की मदद से किया जाता है जो छात्रों की शिक्षण संबंधी कठिनाइयों के ज्ञाता होते हैं। इस तरह के परीक्षण का मुख्य उद्देश्य वैयक्तिक छात्र की कमजोरियों एवं सामर्थ्य को उजागर करना होता है तथा वैसे छात्रों की शिनाख्त या पहचान करना होता है जो सचमुच उपचार की आवश्यकता महसूस करते हों।

(ख) विशिष्ट विषय-वस्तु संबंधी उपलब्धि परीक्षण–इस तरह का परीक्षण प्रत्येक विषय जिसे छात्रों को पढ़ाया जाता है, के लिए अलग-अलग विकसित किया जाता है। ऐसे परीक्षणों का प्रयोग शैक्षिक सत्र के अन्त में किया जाता है तथा पूरे साल में छात्रों द्वारा संबंधित विषय में अर्जित ज्ञान एवं निपुणता का मापन किया जाता है।

(ग) उपलब्धि परीक्षणमाला–उपलब्धि परीक्षणमाला में कई परीक्षण होते हैं जिनके द्वारा अलग-अलग विषयों में छात्रों द्वारा अर्जित ज्ञान का मापन होता है। उपलब्धि परीक्षणमाला में प्रायः 5 से 8 विषयों में अर्जित ज्ञान को मापने के लिए परीक्षण निर्मित किए जाते हैं।

8.7 उपलब्धि परीक्षण तथा बुद्धि परीक्षण में अन्तर

उपलब्धि परीक्षण के माध्यम से छात्रों द्वारा किसी विशेष कार्यक्षेत्र में परीक्षण पाने के कारण अर्जित ज्ञान एवं कौशल का मापन होता है। बुद्धि परीक्षण द्वारा छात्रों की बुद्धि जिसे एक सामान्य मानसिक क्षमता या एक सार्वभौम क्षमता कहा जाता है, की माप होती है। इन दोनों परीक्षणों के अन्तर को हम इस प्रकार उजागर कर सकते हैं–

1. बुद्धि परीक्षण द्वारा छात्रों की बुद्धि की माप होती है और उसके आधार पर सामान्यतः बुद्धि लब्धि ज्ञात की जाती है। उपलब्धि परीक्षण के माध्यम से छात्रों द्वारा अर्जित ज्ञान की माप होती है और इसके आधार पर उपलब्धि तथा शैक्षिक लब्धि ज्ञात की जाती है।

2. उपलब्धि परीक्षण में अर्जित ज्ञान साध्य होता है जबकि बुद्धि परीक्षण में अर्जित ज्ञान मात्र एक साधन होता है। इसका मतलब यह हुआ कि बुद्धि परीक्षण में अर्जित ज्ञान से संबंधित भी कुछ विषय वस्तु होती हैं जो सही अनुक्रिया करने में मदद करती हैं।

3. बुद्धि परीक्षण के आधार पर शिक्षक कुछ हद तक भविष्य में छात्रों के होनेवाले निष्पादन के बारे में एक स्थूल पूर्वानुमान लगा पाते हैं, परन्तु उपलब्धि परीक्षण के आधार पर इस ढंग का पूर्वानुमान लगाना संभव नहीं है। इससे तो छात्र द्वारा विशेष प्रशिक्षण के फलस्वरूप अर्जित ज्ञान का मापन होता है।

2. उपलब्धि परीक्षण के परिणाम के आधार पर शिक्षक को पाठ्यक्रमों के निर्माण में भी काफी सहायता मिलती है। वे पाठ्यक्रमों के कठिन अंशों की पहचान करके उसमें परिवर्तन लाते हैं और यथासंभव उसे छात्रों की क्षमता के अनुकूल बनाते हैं।

3. परोक्ष रूप से उपलब्धि परीक्षण के परिणाम के आधार पर शिक्षकों की कार्य-कुशलता को आंकने में भी सहायता मिलती है।

4. उपलब्धि परीक्षण द्वारा छात्रों को अपने आप में अर्जित गुणों को जाँचने एवं समझने का मौका मिलता है। इससे उनमें आत्मविश्वास तो उत्पन्न होता ही है, साथ ही साथ उन्हें अपने निष्पादन को सुधारने का भी मौका मिलता है।

इस तरह हम देखते हैं कि शिक्षा के दृष्टिकोण से उपलब्धि परीक्षण कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है।

8.11 सारांश

पाठ के इस भाग में पाठ्य सामग्री का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. सामान्यतः बुद्धि मापन का अर्थ है कि किसी मनोवैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा बुद्धि की माप की जाए।

4. बुद्धि परीक्षण में एकांशों का निर्माण करते समय छात्रों या व्यक्तियों की आयु एवं उनकी क्षमता एवं योग्यता आदि को ध्यान में रखा जाता है जबकि उपलब्धि परीक्षण में एकांश का निर्माण करते समय छात्रों द्वारा अध्ययन किए गए विषयों एवं उसकी कठिनता स्तर को ध्यान में रखा जाता है।

इस तरह स्पष्ट है कि बुद्धि परीक्षण तथा उपलब्धि परीक्षण में भिन्नता है।

8.8 उपलब्धि परीक्षण तथा अभिक्षमता परीक्षण में अन्तर

अभिक्षमता परीक्षण एक ऐसा संज्ञानात्मक माप है जिसके द्वारा विभिन्न विषयों में छात्रों की संभाव्य सफलता आंकी जाती है। उपलब्धि परीक्षण तथा अभिक्षमता परीक्षण में निम्नांकित अन्तर हैं :

1. उपलब्धि परीक्षण के माध्यम से छात्रों द्वारा किसी कार्यक्षेत्र में अर्जित ज्ञान का मापन होता है जबकि अभिक्षमता परीक्षण द्वारा किसी कार्यक्षेत्र में निपुणता प्राप्त करने की अन्त:शक्ति का मापन होता है।

2. उपलब्धि परीक्षण द्वारा प्रशिक्षण देने के बाद छात्रों को मिलनेवाली सफलता की माप की जाती है। जबकि अभिक्षमता परीक्षण द्वारा प्रशिक्षण के पहले ही छात्रों को मिलने की सफलता की माप की जाती है।

3. अभिक्षमता परीक्षण के आधार पर यह पूर्वानुमान किया जाता है कि भविष्य में प्रशिक्षण पाने के पहले उसका निष्पादन कैसा होगा जबकि उपलब्धि परीक्षण द्वारा ऐसा पूर्वानुमान लगाना संभव नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा भूत में छात्रों द्वारा प्रशिक्षण के कारंण अर्जित ज्ञान का ही मापन होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि उपलब्धि परीक्षण तथा अभिक्षमता परीक्षण में भी अन्तर है।

8.9 उपलब्धि परीक्षण तथा निपुणता परीक्षण में अन्तर

उपलब्धि परीक्षण अपने निकटतम संबंधी निपुणता परीक्षण से भी किया है निपुणता। परीक्षण से तात्पर्य वैसे परीक्षण से होता है जिसके सहारे व्यावसायिक धन्धों या व्यावसायिक क्षेत्रों में अर्जित ज्ञान की माप की जाती है। निपुणता परीक्षण तथा उपलब्धि परीक्षण में निम्नांकित अन्तर है–

1. निपुणता परीक्षण का संबंध अर्जित व्यावसायिक ज्ञान को मापने से होता है जबकि शैक्षिक उपलब्धि परीक्षण का संबंध अर्जित शैक्षिक ज्ञान को मापने में होता है।

2. निपुणता परीक्षण में एकांशों का निर्माण करते समय विशेषज्ञों को कार्य-विश्लेषण करना पड़ता है ताकि यह पता चल सके कि अमुक कार्य के लिए कौन-कौन से मनोवैज्ञानिक गुणों एवं क्षमताओं की जरूरत होती है। शैक्षिक उपलब्धि परीक्षण के एकांशों का निर्माण करते समय स्कूल में पढ़ाए जाने वाले विषय के तथ्यों का ज्ञान रखना पड़ता है।

इस तरह हम देखते हैं कि उपलब्धि निपुणता परीक्षण के रूप हैं।

8.10 उपलब्धि परीक्षण का महत्त्व

शिक्षा के दृष्टिकोण से उपलब्धि परीक्षण का महत्त्व काफी सराहनीय है। फ्रीमैन (1965) तथा स्वार्ज (1977) ने उपलब्धि परीक्षण को कई कारणों से महत्त्वपूर्ण बताया है। इन बालकों में निम्नांकित प्रमुख हैं–

1. इससे शिक्षकों को कक्षोन्नति में काफी सहायता मिलती है। उपलब्धि परीक्षण पर पर्याप्त सफलता मिलने से शिक्षक यह आसानी से तय कर लेते हैं कि अमुक छात्र को कक्षोन्नति मिलनी चाहिए या नहीं।

6. शिक्षा के क्षेत्र में अभिक्षमता परीक्षण की भी कई उपयोगिताएँ हैं–छात्रों के चयन में, समस्याओं के निदान में, पूर्वानुमान लगाने में, नियोजन, कला, चिकित्साशास्त्र आदि के छात्रों को पुनर्निवेदन प्रदान करने के लिए इत्यादि। इस तरह अभिक्षमता परीक्षण की भी उपयोगिताएँ हैं।

7. उपलब्धि परीक्षण उसे कहते हैं जिसके द्वारा किसी निश्चित कार्य क्षेत्र में छात्र द्वारा अर्जित किये गये ज्ञान एवं कौशल को मापा जाता है। उपलब्धि परीक्षण का स्वरूप निम्नांकित बातों से स्पष्ट हो जाता है–इस परीक्षण द्वारा छात्रों के किसी विशेष क्षेत्र में अर्जित निपुणता तथा ज्ञान नापा जाता है। इसमें प्राप्त परिणाम के आधार पर छात्रों के एक समूह की उपलब्धि की तुलना किसी दूसरे समूह की उपलब्धि से की जा सकती है। इसके द्वारा पाठ्य चर्चा के विभिन्न संप्रत्ययों तथा तथ्यों का मापन होता है। अत: हम कह सकते हैं कि एक मानकीकृत उपलब्धि परीक्षण द्वारा छात्रों द्वारा पाठ्यक्रम के किसी भी क्षेत्र में अर्जित ज्ञान की माप होती है।

उपलब्धि परीक्षण तथा बुद्धि परीक्षण के अध्ययन के फलस्वरूप कई अन्तर स्पष्ट हो जाते हैं–बुद्धि परीक्षण द्वारा इसकी बुद्धि की माप होती है जबकि उपलब्धि परीक्षण द्वारा छात्रों के द्वारा अर्जित ज्ञान की माप होती है। उपलब्धि परीक्षण में अर्जित ज्ञान साध्य होता है जबकि बुद्धि परीक्षण में अर्जित ज्ञान मात्र एक साधन होता है, बुद्धि परीक्षण के द्वारा छात्रों के निष्पादन के बारे में पूर्वानुमान लगाना संभव है जबकि उपलब्धि

सामूहिक परीक्षण, त्रिभिनय, ब्लाक, अभाषाई, बुद्धि लब्धि, मानसिक आयु, औपचारिक, अनौपचारिक, दूरदर्शिता, प्रगतिशील, बुद्धिमापन, अभिरुचि, अभिक्षमता, पूर्वानुमान, प्रशिक्षण, अन्त:शक्ति, परीक्षणमाला, यांत्रिक चिन्तन, पुनर्विज्ञान, श्रेणीकरण, उपलब्धि परीक्षण, कार्यक्षेत्र, मानकीकृत, पाठ्यचर्या, निपुणता, कक्षोन्नति, वैधता, परोक्ष उपकरण गृहकार्य, अनुक्रिया, आत्मविश्वास इत्यादि।

8.13 अभ्यास के प्रश्न

8.13.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **शिक्षा में बुद्धि परीक्षण की क्या उपयोगिता है ?**
   उत्तर–देखें 8.3
2. **उपलब्धि परीक्षण किसे कहते हैं ?**
   उत्तर–देखें 8.1
3. **अभिक्षमता परीक्षण से आप क्या समझते हैं ?**
   उत्तर–देखें 8.5.1
4. **सामान्य अभिक्षमता परीक्षण से आप क्या समझते हैं ?**
   उत्तर–देखें 8.5.3
5. **उपलब्धि परीक्षण तथा अभिक्षमता परीक्षण में क्या अन्तर है ?**
   उत्तर–देखें 8.8

8.13.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. **बुद्धि परीक्षण के प्रकार एवं उपयोगिता का उल्लेख करें।**
   उत्तर–देखें 8.2 एवं 8.3
2. **अभिक्षमता परीक्षण किसे कहते हैं ? सामान्य तथा विशिष्ट अभिक्षमता परीक्षण का उल्लेख करें।**
   उत्तर–देखें 8.5.1, 8.5.3 एवं 8.5.4
3. **उपलब्धि परीक्षण के अर्थ एवं प्रकार का वर्णन करें।**
   उत्तर–देखें 8.6.3 एवं 8.6.4
4. **विशिष्ट अभिक्षमता परीक्षण का वर्णन करें तथा उपलब्धि परीक्षण तथा बुद्धि परीक्षण में अन्तर बतावें।**
   उत्तर–देखें 8.5.4, 8.7

8.14 प्रस्तावित पाठ

1. सुलेमान मु० एवं सिंहा आर० के० : **आधनिक शिक्षा मनोविज्ञान**
2. वात्सायन : **शिक्षा मनोविज्ञान**
3. स्कीनर सी० ई० : **एसेनसियल ऑफ एजुकेशनल साईकोलॉजी**

◆◆◆

शिक्षण
Learning

पाठ-संरचना

9.0 उद्देश्य

9.1 अनौपचारिक शिक्षण

9.1.1 अनौपचारिक शिक्षण

9.2 औपचारिक शिक्षण

9.2.1 औपचारिक शिक्षण के प्रकार

9.3 औपचारिक शिक्षण तथा अनौपचारिक शिक्षण में अन्तर

9.4 सीखने में महत्त्वपूर्ण अभिप्रेरण एवं प्रोत्साहन का महत्व

9.4.1 पुरस्कार और दण्ड

9.4.2 प्रशंसा और निन्दा

9.4.3 परिणाम का ज्ञान

9.4.4 स्पर्धा प्रतियोगिता तथा सहयोगिता

9.4.5 आकांक्षा स्तर

9.4.6 सामाजिक अनुमोदन

9.4.7 व्यावसायिक लक्ष्य

9.5 बालक को प्रेरित करने के तरीके

9.6 सारांश

9.7 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

9.8 अभ्यास के प्रश्न

9.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

9.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

9.9 प्रस्तावित पाठ

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के उद्देश्य में पाठकों को यह बतलाना है कि औपचारिक शिक्षा तथा अनौपचारिक शिक्षा किसे कहते हैं तथा इन दोनों के बीच क्या अन्तर है। इसका दूसरा उद्देश्य पाठकों को यह बतलाना है कि शिक्षण में

प्रेरणा का क्या महत्त्व है। दूसरे शब्दों में पाठकों को इस बात से अवगत कराना है कि किसी विषय को सीखने में पुरस्कार, दण्ड आदि का क्या महत्व होता है। इस पाठ का तीसरा उद्देश्य पाठकों को यह बतलाना है कि शिक्षा के प्रति बालकों को किस प्रकार अभिप्रेरित किया जा सकता है। चौथा उद्देश्य पाठकों को इस बात का अवसर देना है कि वे स्वयं अपनी उपलब्धि की जाँच कर सकें। इसके लिए इस पाठ के अन्त में कुछ लघु उत्तरीय तथा कुछ दीर्घ उत्तरी प्रश्न दिये जायेंगे ताकि वे उनका उत्तर लिख कर स्वयं अपनी अपनी उपलब्धि की जाँच कर सकें। इसके अलावा कुछ अन्य पुस्तकों का उल्लेख किया जायेगा जिनका उपयोग करके जागरूक पाठक और अधिक लाभ उठा सकेंगे।

9.1 अनौपचारिक शिक्षण (Informal Learning)

मैगयुस ने शिक्षण को पारिभाषित करते हुए कहा है कि शिक्षण व्यवहार में अपेक्षाकृत स्थायी परिवर्तन है जो अभ्यास के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। शिक्षण को मुख्यत: दो भागोंमें विभाजित किया गया है जिसे औपचारिक शिक्षण एवं अनौपचारिक शिक्षण के नाम से जाना जाता है। शिक्षण की सामान्य परिभाषा दोनों ही प्रकार के शिक्षण पर लागू होती है। स्पष्टत: दोनों प्रकार के शिक्षण के मौलिक तत्व सामान्य ही होते हैं। हालांकि अनौपचारिक शिक्षण से अर्थ वैसे शिक्षण से लिया जाता है जिसकी कोई निर्धारण पद्धति एवं विधि न हो। ऐसे शिक्षण की आवश्यकता होती है। ऐसा शिक्षण प्राय: घर से शुरू होता है जहाँ बच्चे अपने माता-पिता से सीधे या किसी अन्य माध्यम से पारिवारिक मूल्य, रीति-रिवाज व्यवहार, बोलना-चालना आदि कार्यकलापों को सीखता है। कभी-कभी इस क्रम में परिवार के सदस्यों से उन्हें मदद मिलती है। अनौपचारिक शिक्षण पड़ोस से भी सम्भव होता है क्योंकि बच्चे अड़ोस-पड़ोस के सदस्यों से व्यवहार करना सीख लेते हैं। इस संदर्भ में बंदुरा (1965) का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने स्पष्टत: बताया कि अनौपाचारिक शिक्षण का एक रूप ही सामाजिक शिक्षण है जो परीक्षण पर आधारित है। इसी प्रकार अनौपचारिक शिक्षण का एक स्रोत खेल का मैदान है। बच्चों में मानसिक विकास, संज्ञानात्मक विकास, संवेगात्मक विकास, सामाजिक विकास, इत्यादि खेल के द्वारा सम्भव है जिसे अनौपचारिक शिक्षण का परिणाम माना जा सकता है।

अत: अनौपचारिक शिक्षण से तात्पर्य वैसे शिक्षण से होता है जिसमें बालक किसी कौशल को एक औपचारिक प्राधिकारी से नहीं सीखते हैं तथा इस तरह के शिक्षण का वातावरण उतना अनुशासनात्मक नहीं होता है जितना कि औपचारिक शिक्षण का। जैसे, बच्चे अपने साथियों के समूह में कुछ विशेष अंत:क्रियाएँ करते हुए कभी-कभी विशेष कौशल को सीख लेते हैं। इसे अनौपचारिक शिक्षण कहा जाता है। शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने अनौपचारिक शिक्षण के मूलत: निम्नांकित तीन प्रकार बताया है–

9.1.1 अनौपचारिक शिक्षण के प्रकार

1. माता-पिता द्वारा दी गई शिक्षा–कहा जाता है कि परिवार पहली पाठशाला होती है जहाँ बच्चे शिक्षित होते हैं। इस पाठशाला में परिवार के सदस्यों का विशेषकर माता-पिता की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण बताई गई है। माता-पिता बच्चों की उम्र के अनुसार तरह-तरह की शिक्षा देते हैं। बच्चों को कैसे अपने से बड़ों के साथ, अपने से छोटे के साथ, परिवार में बाहर के लोगों के साथ अंत:क्रिया के साथ, करना चाहिए, इसकी शिक्षा माता-पिता से ही मिलती है। इतना ही नहीं, बच्चों को नैतिक शिक्षा भी देकर माता-पिता उन्हें मानसिक रूप से काफी परिपक्व कर देते हैं। कुछ शिक्षा मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जिन बच्चों को अपने माता-पिता से बाल्यावस्था में इस तरह की अनौपचारिक शिक्षा नहीं मिलती है, उनमें वयस्कावस्था में व्यक्तित्व विकृति की उत्पत्ति होने की संभावना काफी तीव्र हो जाती है।

2. पास-पड़ोस द्वारा दी गई शिक्षा—बच्चे अपने पास-पड़ोस के व्यक्तियों के साथ अन्त:क्रिया करके भी कई तरह के कौशलों को सीखते हैं। इसे शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने अनौपचारिक शिक्षा का एक प्रमुख अंग माना है। पास-पड़ोस के व्यक्तियों को जैसा व्यवहार करते हुए बच्चे देखते हैं, वे उसका अनुकरण करते हैं तथा उसे आत्मसात करते हैं। यही कारण है कि उत्तम पड़ोसी होने से बच्चों में उत्तम नैतिकता एवं शिष्टाचार का गुण तेजी से पनपता है। ठीक उसके विपरीत, यदि पास-पड़ोस का वातावरण उत्तम नहीं होता है, तो बच्चों का मानसिक विकास उससे अनुचित ढंग से प्रभावित हो जाता है क्योंकि ऐसे बच्चे बहुत सारी अनुपयुक्त आदतों को सीख लेते हैं।

३. साथियों के समूह में प्राप्त शिक्षा—प्रत्येक बालक 5-6 साल की आयु के बाद से अपनी एक विशेष टोली कायम करता है तथा इस टोली के सभी सदस्य एक-दूसरे के अच्छे मित्र होते हैं। इस टोली का प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे के साथ अंत:क्रिया करके उन्हें प्रभावित करते हैं तथा विशेष कौशल को सीखने में मदद करता है। शायद यही कारण है कि जिस ऐसी टोली के अधिकांश सदस्य क्रिकेट में रुचि रखते हैं, उनके अन्य सारे सदस्यों में भी इस खेल से संबद्ध नियमों का ज्ञान एवं खेल में अभिरुचि अधिक हो जाती है।

9.2 औपचारिक शिक्षण (Formal learning)

दूसरी ओर औपचारिक शिक्षण का विकास 6 वर्ष के बाद शुरू होता है। जन्म से 6 वर्षों तक के शिक्षण को अनौपचारिक शिक्षण एवं 6 वर्षों के बाद के शिक्षण को औपचारिक शिक्षण के नाम से जाना जाता है। जैसा कि आपको बताया जा चुका है कि औपचारिक शिक्षण, परिवार, पड़ोस, समाज, खेल इत्यादि के द्वारा सम्भव हो जाता है, जबकि दूसरी ओर औपचारिक शिक्षण 6 वर्षों के बाद स्कूल से शुरू होता है। औपचारिक शिक्षकों की आवश्यकता होती है। इन सभी चीजों की आवश्यकता एक स्कूल को होती है। बच्चों के औपचारिक शिक्षण के अर्थ वैसे शिक्षण से है जिसके लिए प्रविधि, पद्धति, संस्थान, पाठ्यक्रम एवं शिक्षण प्रदान करता है।

अत: औपचारिक शिक्षण से तात्पर्य वैसे शिक्षण से होता है जिसमें शिक्षार्थी किसी अनुशासनात्मक वातावरण में कुछ खास तरह के नियमों एवं सिद्धान्तों के अनुरूप किसी कौशल को सीखते हैं। जैसे, कक्षा में शिक्षकों की उपस्थिति में शिक्षार्थी द्वारा सीखा गया कौशल एक औपचारिक शिक्षण का उत्तम उदाहरण है।

9.2.1 औपचारिक शिक्षण के प्रकार

असुबेल (1989) ने औपचारिक शिक्षण को मूलत: दो भागों में बांटा है—

1. कक्षा शिक्षण
2. क्षेत्र शिक्षण

इन दोनों की व्यवस्था इस प्रकार है—

1. कक्षा शिक्षण—कक्षा शिक्षण से तात्पर्य स्कूल या कॉलेजों में छात्रों द्वारा वर्ग या कक्षा में शिक्षकों की मदद से ग्रहण किया गया कौशल से होता है। इस तरह के शिक्षण में स्कूल, शिक्षक, पाठ्य-पुस्तक तथा अन्य संबद्ध सामग्रियों की भूमिका अधिक होती है। शिक्षक छात्रों को कक्षा में शिक्षा देने के लिए एक विशेष पाठ्यक्रम तैयार करते हैं और उसी के अनुरूप वे छात्रों को कौशल सिखाते हैं। इस तरह की शिक्षा की उपयोगिता यह होती है कि इससे छात्र का चिंतन, तर्कशक्ति एवं अन्य संबद्ध योग्यताओं का इतना अधिक विकास हो जाता है कि वह अपने दिन-प्रतिदिन की जिंदगी में ठीक ढंग से समायोजन तो कर ही लेता है तथा साथ-ही-साथ उसमें पर्याप्त मानसिक परिपक्वता भी आ जाती है।

2. क्षेत्र शिक्षण–क्षेत्र शिक्षण से तात्पर्य वैसे शिक्षण से होता है जिसमें छात्र किसी क्षेत्र में जैसे खेल के मैदान में विशेष प्राधिकारी जैसे शिक्षक या अन्य कोई विशेषज्ञ की मदद से किसी विशेष कौशल को सीखते हैं। अक्सर छात्रों को स्कूल में खेल के मैदान में कुछ विशेष तरह की शिक्षा दी जाती है जिसका मूल उद्देश्य वहाँ शिक्षण से बचे हुए कौशलों को पर्याप्त विकास करने से होता है। ऐसे शिक्षण का महत्त्व शारीरिक शिक्षा में सर्वाधिक होता है।

शिक्षा मनोवैज्ञानिकों का मत है कि कक्षा शिक्षण तथा क्षेत्र शिक्षण के माध्यम से दिया गया औपचारिक शिक्षण संपूर्ण एवं परिपक्व होता है क्योंकि इससे बालकों का मानसिक एवं शारीरिक दोनों तरह का विकास समन्वित ढंग से होता है।

9.3 औपचारिक शिक्षण तथा अनौपचारिक शिक्षण में अन्तर

1. औपचारिक शिक्षण में एक औपचारिक प्राधिकारी जैसे शिक्षक होते हैं जिनके निर्देशन में शिक्षण का कार्य होता है, परंतु अनौपचारिक शिक्षण में इस तरह का कोई औपचारिक प्राधिकारी नहीं होता है जिसके निर्देशन में शिक्षण का कार्य हो सके।

2. औपचारिक शिक्षण का वातावरण अनुशासनात्मक होता है। फलस्वरूप इसके अनुशासन को तोड़ने पर बालकों या छात्रों को दंड भी दिया जा सकता है। परंतु अनौपचारिक शिक्षण का वातावरण अनुशासन प्रधान नहीं होता है और इसमें कोई सख्त दण्ड देने आदि का प्रावधान नहीं होता है।

3. औपचारिक शिक्षण से छात्रों के कौशलों में एक गुणवत्ता सुधार होता है जबकि अनौपचारिक शिक्षण से छात्रों के कौशलों में कोई स्पष्ट सुधार नहीं आता है। बल्कि कभी-कभी ऐसे अनौपचारिक शिक्षण से छात्रों के व्यक्तित्व एवं चरित्र में गिरावट ही आ जाती है।

4. औपचारिक शिक्षा ग्रहण करते समय छात्रों में मानसिक सर्तकता काफी अधिक होती है तथा उनमें प्रतियोगिता की भावना अधिक होती है। परंतु अनौपचारिक शिक्षा ग्रहण करते समय छात्रों में मानसिक विभ्रांति अधिक होती है तथा प्रतियोगिता की भावना भी तीव्र नहीं होती है।

स्पष्ट हुआ कि औपचारिक शिक्षण अनौपचारिक शिक्षण से भिन्न है।

यह स्पष्ट कि अनौपचारिक शिक्षण की अपेक्षा औपचारिक शिक्षण का क्षेत्र काफी विस्तृत है। दूसरे शब्दों में अनौपचारिक शिक्षण 6 वर्षों की उम्र में ही समाप्त हो जाता है। जबकि औपचारिक शिक्षण 6 वर्ष से जीवन भर चलता रहता है जिसका क्रम प्राथमिक विद्यालय, मध्य विद्यालय एवं विश्वविद्यालय होता है। दूसरी बात यह है कि औपचारिक शिक्षण किसी खास स्थान तक सीमित नहीं होता जबकि अनौपचारिक शिक्षण किसी खास स्थान तक सीमित होता है। इन दोनों के बीच एक अन्तर पाठ्यक्रम को लेकर है। अनौपचारिक शिक्षण में कोई पाठ्यक्रम की आवश्यकता नहीं होती है जबकि औपचारिक शिक्षण में एक निर्धारित पाठ्यक्रम होता है। इन दोनों के बीच एक अन्तर प्रविधि को लेकर भी है। औपचारिक शिक्षण में कोई खास प्रविधि नहीं होती, कोई खास शिक्षण विधि नहीं होती जबकि औपचारिक शिक्षकों में एक खास प्रविधि का होना आवश्यक है। इन दोनों प्रकार के शिक्षण के बीच एक अन्तर शिक्षकों को लेकर है। औपचारिक शिक्षण में शिक्षकों की नियुक्ति अत्यावश्यक है जबकि अनौपचारिक शिक्षण में यह बात लागू नहीं होती।

दोनों प्रकार के शिक्षण में उपर्युक्त कई अन्तर होने के बाद भी अनौपचारिक शिक्षण का महत्त्व औपचारिक शिक्षण के विकास पर पड़ता है। इसीलिए कहा गया है कि अनौपचारिक शिक्षण में औपचारिक शिक्षण की एक तैयारी होती है।

9.4 सीखने में महत्त्वपूर्ण अभिप्रेरण एवं प्रोत्साहन का महत्त्व

शिक्षा मनोवैज्ञानिकों का आम मत यह है कि स्कूल शिक्षण में अभिप्रेरण एवं प्रोत्साहन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षकों एवं शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने अभिप्रेरण को सीखने का राजकीय मार्ग कहा है। यहाँ हम यह देखने का प्रयास करते हैं कि बालकों के शिक्षण में प्रेरणा तथा प्रोत्साहन का क्या स्थान है। सफल शिक्षण के लिए जिन तत्वों की जरूरत है, उनमें प्रेरणा का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में प्रेरणा ही सारी क्रियाओं का मूल स्रोत है। शिक्षण पर जन्मजात शारीरिक तथा अर्जित सामाजिक दोनों प्रकार के प्रेरकों का प्रभाव पड़ता है। सीखने के विभिन्न सिद्धान्तों पर नजर डालने में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि छोटे-छोटे प्राणियों के सीखने का आधार शारीरिक प्रेरक है। थॉर्नडाइक की (1898) की बिल्ली, कोहलर (1917) के बन्दर तथा पैवलॉव (1904) के कुत्ते ने अपनी-अपनी समस्याओं का समाधान इसलिए सीखा कि वे भूख से प्रेरित थे और उनके सामने उद्दीपन यदि नहीं होता तो वे अपनी समस्या का समाधान करना नहीं सीख पाते।

कई अध्ययनों से यह पता चलता है कि अभिप्रेरण सीखने की प्रक्रिया में तीन तरह का कार्य करता है जो निम्नांकित हैं–

1. अभिप्रेरण व्यवहारों को शक्ति प्रदान करता है–अभिप्रेरण बालकों में शक्ति उत्पन्न करता है तथा उसे क्रियाशील बना देता है। शारीरिक अभिप्रेरक जैसे भूख, प्यास, काम बालकों में क्रियाशील उत्पन्न कर देते हैं। मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरक या जिन्हें अर्जित अभिप्रेरक भी कहा जाता है, जैसे उपलब्धि अभिप्रेरक, संबंधन अभिप्रेरक, अनुमोदन अभिप्रेरक आदि भी बालकों में इतनी अधिक शक्ति एवं क्रियाशीलता उत्पन्न कर देते हैं कि उससे किसी कार्य को करने या सीखने में काफी मदद मिलती है।

2. अभिप्रेरण व्यवहार को एक निश्चित दिशा प्रदान करता है–अभिप्रेरण बालकों के व्यवहार को एक खास दिशा में निर्देशित करता है। वह बालकों के व्यवहार को लक्ष्य की ओर निर्देशित करता है। इससे फायदा यह होता है कि बालक को अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने में सहायता मिलती है। इस तरह अभिप्रेरित व्यवहार उद्देश्यपूर्ण एवं सतत होता है। उदाहरणार्थ, जिस बालक में वर्ग उपलब्धि अभिप्रेरक की प्रबलता होती है, वह हमेशा अपना ध्यान पुस्तकों की ओर लगाए रहता है तथा वर्ग में शिक्षकों की बातों पर अधिक ध्यान देता है।

3. अभिप्रेरण में व्यवहार चयनात्मक हो जाता है–अभिप्रेरण बालकों के व्यवहार को सिर्फ दिशा-निर्देश ही नहीं प्रदान करता है बल्कि उनके व्यवहार को चयनात्मक बना देता है। वह बालकों को एक निश्चित व्यवहार का चयन करने में मदद करता है। बालक अपने लिए एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित कर सिर्फ उन्हीं व्यवहारों को करता है, जिनसे उस लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

स्पष्ट है कि अभिप्रेरण महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाकर बालकों या व्यक्तियों को सीखने के लिए एक उचित वातावरण तैयार करता है।

ऐन्डरसन ने बालकों की शिक्षा में विभिन्न प्रकार के प्रेरकों के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार बिना प्रेरणा के प्रभावशील शिक्षण की कल्पना नहीं की जा सकती है। उनके शब्दों में, "शिक्षण की सर्वोत्तम प्रगति तभी होगी जबकि व्यक्ति प्रेरित हो।" इसी प्रकार मिल्टन ने शिक्षण में प्रेरणा के स्थान को निर्धारित करते हुए कहा, "प्रेरणा सीखने की एक आवश्यक शर्त है" गेट्स ने प्रेरणा के महत्व पर जोर देते हुए लिखा है, "सीखने के लिए प्रेरणा अनिवार्य है जो मौलिक व्यवहार तथा इसके परिमार्जन के लिए पूर्वगामी गत्यात्मक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है।" इस विचार का समर्थन करते हुए केली ने लिखा है, "शिक्षण प्रक्रिया की समुचित व्यवस्था में प्ररेणा एक प्रधान तत्व है। सभी शिक्षणों में कोई-न-कोई प्रेरणा अवश्य ही वर्तमान रहती है।

उपर्युक्त विवेचनों से प्रमाणित होता है कि शिक्षा में प्रेरणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब हमें इस बात की ओर ध्यान देना है कि प्रेरणा तथा उद्दीपन में क्या सम्बन्ध है और बालकों को उनकी शिक्षा की ओर किस प्रकार प्रेरित किया जा सकता है।

शिक्षा और प्रोत्साहन

प्रोत्साहन का तात्पर्य उन बाह्य उत्तेजनाओं से है जिनसे प्रभावित होकर शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करने या किसी विषय को सीखने का प्रयास करता है। जैसे–यदि कोई बालक अभिभावक के भय से अथवा इनाम पाने के उद्देश्य से पढ़ता है तो ''भय'' अथवा ''इनाम'' को उद्दीपन कहेंगे, क्योंकि इससे बालक को अपने पाठ को सीखने की प्रेरणा मिल रही है। यहाँ यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि प्रेरणा तथा प्रोत्साहन में गहरा सम्बन्ध है। वास्तव में प्रेरणा के ही बाह्य रूप को उद्दीपन करते हैं। इसी आधार पर शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने प्रेरणा को दो भागों में विभाजित किया है–

(क) आन्तरिक प्रेरणा तथा

(ख) बाह्य प्रेरणा

यदि कोई बालक पढ़ने को ही उद्देश्य मानकर पढ़े और उसमें आनन्द का अनुभव करे तो पढ़ने की इस प्रेरणा को आन्तरिक प्रेरणा कहेंगे। सैनफोर्ड (1965) के शब्दों में, ''आन्तरिक प्रेरणा सीखे जानेवाले विषय अथवा पूरा किया जाने वाले पाठ में ही अन्तर्निहित होती है।''

दूसरी ओर यदि कोई बालक इसलिए पढ़ता है कि इस प्रकार वह वातावरण की किसी चीज को प्राप्त कर सके तो पढ़ने की इस प्रेरणा को बाह्य प्रेरणा कहेंगे। स्मरण रखने की बात यह है कि बालक को पढ़ने के लिए पढ़ाई के विषय से प्रेरणा नहीं मिल रही है बल्कि बाहर की कोई दूसरी चीज उसे प्रेरित कर रही है। इसी बाहरी चीज को प्रोत्साहन कहा जाता है। इस प्रकार बाह्य प्रेरणा ही प्रोत्साहन है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए सैनफोर्ड ने कहा है, ''बाह्य प्रेरणा का तात्पर्य ऐसे उद्दीपनों के उपयोग से है जो क्रिया उत्पन्न करने में समर्थ हों परन्तु पूरा किए जाने वाले पाठ में अन्तर्निहित नहीं हो।''

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के विचारों से स्पष्ट हो गया है कि सीखने की प्रक्रिया में अभिप्रेरणा की काफी अहमियत है। ऐसे तो कई तरह के अभिप्रेरण एवं प्रोत्साहन हैं जिनसे सीखने की प्रक्रिया प्रभावित होती है परन्तु निम्नांकित कुछ प्रमुख प्रकार हैं जिनका अध्ययन शिक्षकों तथा शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने छात्रों द्वारा वर्ग में सीखने के संदर्भ में अधिक किया है–

9.4.1 पुरस्कार और दण्ड (Reward and Punishment)

बालकों की शिक्षा में पुरस्कार तथा दण्ड दोनों का विशिष्ट स्थान है। व्यक्ति स्वभावतः उस क्रिया को बार-बार दुहराता है, जिससे उसे सन्तुष्टि या पुरस्कार मिलता है और उस क्रिया को छोड़ देता है जिससे दण्ड मिलता है।

बालकों की शिक्षा में पुरस्कार तथा दण्ड जिन्हें बाह्य प्रोत्साहन या बाह्य अभिप्रेरण माना गया है, अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया है कि पुरस्कार के गुण से भिन्न होते हैं तथा उनकी शिक्षा एवं शिक्षण पर विभेदात्मक प्रभाव होते हैं। अन्य गुणों के अलावा पुरस्कार छात्र में संतोष, रुचि, उत्साह तथा उच्च मनोबल पैदा करता है जबकि दण्ड छात्रों में खीझ, अरुचि, निरुत्साह आदि पैदा करता है। शायद यही कारण है कि जब छात्र को किसी पाठ को सीखने के लिए पुरस्कार दिया जाता है तो वह उसे बार-बार दुहराना चाहता है और उसे जल्द ही सीख लेता है। दूसरी तरफ जब छात्र को दंडित किया जाता है,

तब वह उस कार्य को दुहराना नहीं चाहता, क्योंकि उसमें खीझ उत्पन्न हो जाती है।

थार्नडाइक (1928) का मशहूर प्रभाव नियम

थॉर्नडाइक के प्रभाव नियम में इस सत्य की झांकी मिलती है। वास्तविकता यह है कि थॉर्नडाइक ने ही 1911 ई० में प्रभाव नियम की स्थापना कर सीखने में सर्वप्रथम प्रेरणा के महत्त्व को प्रमाणित किया। उन्होंने बताया कि पुरस्कार से किसी चीज को सीखने की प्रेरणा मिलती है और दण्ड से किसी चीज को नहीं सीखने की प्रेरणा मिलती है। अत: जिस विषय को सीखने के बाद विद्यार्थी को पुरस्कार दिया जाता है उस विषय को वह बार-बार दुहराता है और सीख लेता है, परन्तु जिस विषय को सीखने के बाद उसे दण्ड दिया जाता है, उस विषय को वह छोड़ देता है। पुरस्कार से विद्यार्थी को किसी विषय में अधिक-से-अधिक रुचि लेने तथा शीघ्र-से-शीघ्र सीख लेने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार शिक्षण पर पुरस्कार का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से और दण्ड का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है।

शिक्षा में दण्ड एवं पुरस्कार का महत्त्व

यद्यपि शिक्षा में दण्ड का भी एक विशेष स्थान है, परन्तु पुरस्कार का महत्त्व उससे कहीं अधिक है। इसके कई कारण हैं–

1. पुरस्कार का प्रभाव शिक्षण पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है।
2. पुरस्कार सुखद तथा आनन्ददायक होता है।
3. सुखद होने के कारण पुरस्कार से बालकों में शिक्षा के प्रति जिज्ञासा तथा अभिरुचि पैदा होती है।
4. पुरस्कार बालकों के अहम् (महत्व) को उत्तेजित करता है और मनोबल को बढ़ाता है।

दूसरी ओर दण्ड बालकों की शिक्षा के लिए अधिक उपयोगी नहीं है। इसके भी कई कारण हैं–

1. दण्ड का प्रभाव शिक्षण पर परोक्ष रूप से पड़ता है।
2. दण्ड का आधार भय है जो शैक्षिक दृष्टि से अवांछनीय है।
3. यदि विद्यार्थी भयभीत न हो अथवा भय के परिणाम को सहने के लिए तैयार हो तो दण्ड निरर्थक सिद्ध होता है।
4. दण्ड का असर सदा स्थायी नहीं है।
5. दण्ड से बालकों में दुखद भाव पैदा होता है।
6. दण्ड के कारण बालकों में शिक्षणों के प्रति डाह तथा शिक्षा के प्रति उदासीनता का भाव उत्पन्न होना सम्भव है।
7. दण्ड के कारण कभी-कभी बालकों का जीवन असन्तुलित हो जाता है।

इस सन्दर्भ में जो प्रयोगात्मक अध्ययन हुए हैं उनसे प्रमाणित होता है कि शैक्षणिक दृष्टि से पुरस्कार का महत्त्व दण्ड से कहीं ज्यादा है। थॉर्नडाइक (1935) ने बुद्धि, आयु, यौन, शिक्षा आदि की दृष्टि से 60 बालकों पर प्रयोग किया। बालकों को तीन समूह में बांट दिया गया। सभी बालकों को एक ही विषय सीखने के लिए दिया गया। पहले समूह के बालकों को गलती करने पर दण्ड दिया जाता था। दूसरे तथा तीसरे समूह के बालकों को सही करने पर क्रमश: मौखिक पुरस्कार तथा आर्थिक पुरस्कार दिया जाता था। रिजल्ट में देखा गया कि तीसरे समूह के बालकों ने दूसरे समूह की अपेक्षा तथा दूसरे समूह के बालकों ने पहले समूह की अपेक्षा अपने विषय को जल्दी सीख लिया। इस प्रयोग से दो बातें प्रमाणित होती हैं। पहली बात यह है कि दण्ड की तुलना में पुरस्कार प्रबल प्रेरणा है। दूसरी बात यह है कि मौखिक प्रेरणा से आर्थिक प्रेरणा ज्यादा प्रभावशील है।

पी० टी० यंग ने चूहे पर प्रयोग करके साबित किया कि बालकों की शिक्षा के लिए दण्ड की अपेक्षा पुरस्कार ज्यादा लाभप्रद होता है।

दूसरी ओर पुरस्कार की खामियों की चर्चा करते हुए टॉम्पसन ने कई बातों का जिक्र किया है।

1. पुरस्कार (भौतिक) के कारण बालकों में सीखने की प्रेरणा उत्पन्न नहीं होती वरन् किसी उद्दीपन प्राप्त करने की तत्परता उत्पन्न होती है।
2. कभी-कभी वे पुरस्कार पाने के लिए छल-कपट से काम लेते हैं।
3. पुरस्कार से बालकों में गलत मनोवृत्ति का विकास होता है। उनमें सदा कुछ प्राप्त करते रहने की प्रवृत्ति विकसित होती है जो स्वस्थ व्यक्तित्व के लिए हानिप्रद है।

हॉर्टशॉर्न तथा मेय ने अपने अध्ययन में पाया कि जिन बालकों को पुरस्कार देकर ईमानदार बनाने का प्रयास किया गया, वास्तव में वे अन्य बालकों की अपेक्षा बेईमान साबित हुए। कारण यह है कि वे सिर्फ इनाम पाने के लिए बाह्य रूप से प्रेरित थे, न कि उनमें ईमानदारी के प्रति कोई आन्तरिक प्रेरणा थी। इस तरह पुरस्कार से बालकों में इनाम (जैसे–पैसा, पुस्तक, कलम, पदक आदि) प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है, न कि शैक्षिक उपलब्धि की शक्ति उत्तेजित होती है। आज की शिक्षा व्यवस्था में यही मौलिक भूल दीख पड़ती है। आज विद्यार्थी अच्छा अंक या उच्च श्रेणी पाने के लिए ही पढ़ता है। फल यह होता है कि परीक्षा में जोर-जुल्म करके भी उच्च श्रेणी या अच्छा अंक प्राप्त कर लेता है, परन्तु उसकी शैक्षिक उपलब्धि संतोषजनक नहीं हो पाती। जैसे–सिंह की खाल ओढ़कर भी गीदड़ सिंह की बोली नहीं बोल सकता, उसी तरह ऐसे प्रमाणपत्रों को प्राप्त करके भी कोई शिक्षित की भाषा नहीं बोल सकता।

रिली तथा लेविस (1983) ने इस क्षेत्र में किए अध्ययनों की समीक्षा कर यह बताया है कि पुरस्कार को शिक्षा एवं शिक्षण में सचमुच प्रभावकारी होने के लिए यह आवश्यक है कि पुरस्कार रचनात्मक हो। पुरस्कार को रचनात्मक बनाने के लिए उन्होंने निम्नांकित सुझाव दिए हैं–

1. पुरस्कार अर्जित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, पुरस्कार छात्रों को तभी दिया जाना चाहिए जब उन्होंने शिक्षण में हाथ बंटाया हो। बिना शिक्षण में हाथ बंटाए ही दिया गया पुरस्कार छात्रों में अच्छा भाव नहीं उत्पन्न करता और उसका प्रभाव भी ठीक नहीं होता है।

2. पुरस्कार निष्कपट होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, तुच्छ कार्यों के लिए या सरलतम शिक्षा के लिए पुरस्कार नहीं देना चाहिए।

3. पुरस्कार स्पष्टतः किसी विशिष्ट कार्य के लिए दिया जाना चाहिए, न कि किसी सामान्य कार्य के लिए। इससे छात्रों का मनोबल बढ़ता है तथा उनके शिक्षण पर प्रभावी असर पड़ता है।

4. रचनात्मक पुरस्कार में एक संदर्भ बिन्दु होना चाहिए। छात्र यह निश्चित रूप से समझे कि उनका शिक्षण निष्पादन अन्य छात्रों से कितना श्रेष्ठ होने पर इनाम दिया गया है।

5. पुरस्कार तात्कालिक होना चाहिए। शिक्षण या सीखना के क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से स्पष्ट हो गया है कि चाहे पुरस्कार का स्वरूप जैसा भी क्यों न हो, यदि वह तुरंत दिया जाता है, तो उसका प्रभाव अच्छा होता है।

दण्ड का भी प्रभाव शिक्षा तथा शिक्षण में होता देखा गया है। शिक्षा मनोवैज्ञानिकों एवं शिक्षकों का आम मत है कि दण्ड के निम्नांकित स्पष्ट प्रभाव होते हैं–

(क) दण्ड अधिकारियों के प्रति आदर दिखाना सिखाता है।

(ख) दण्ड छात्रों की अवांछनीय अनुक्रियाओं को रोकता है।

(ग) दण्ड उन कार्यों को भी करने पर बल डालता है जिसे छात्र सामान्यत: नहीं करना चाहते।

(घ) दण्ड छात्रों को वर्ग के कार्यों पर उचित ध्यान देने के लिए बाध्य करता है।

(ङ) दण्ड छात्रों को दिए गए पाठ या विषय को याद करने के लिए प्रेरित करता है।

सिम्पसन (1989) ने अपने अध्ययन में पाया कि जब छात्रों को शिक्षक द्वारा दण्ड देने की धमकी दी गई तो उनका वर्ग निष्पादन उन छात्रों के वर्ग निष्पादन की तुलना में जिन्हें ऐसी कोई धमकी नहीं दी गई थी, 40% उन्नत हो गया। ग्रीनी एवं रॉबिन्सन (1980) ने भी अपने अध्ययन में पाया कि जिन विषयों के शिक्षकों द्वारा छात्रों को अक्सर दण्डित किया जाता था, उनके वर्ग का निष्पादन 62% उन छात्रों के निष्पादन से अधिक था जिन्हें शिक्षकों द्वारा दण्डित नहीं किया जाता था। इसके बावजूद दण्ड के कुछ नकारात्मक प्रभाव होते हैं। बूलेयर, जोन्स एवं सिम्पसन (1965) ने ऐसे ही कुछ नकारात्मक प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया है–

1. छात्रों में दण्ड देने वाले अधिकारी या शिक्षक के प्रति विद्वेष एवं दोष उत्पन्न हो जाता है।

2. दण्ड से कभी-कभी छात्रों में सांवेगिकता का स्तर इतना अधिक बढ़ जाता है कि उनमें किसी प्रकार का शिक्षण संभव नहीं है।

3. दण्ड दिए जाने से छात्र दण्ड से मात्र छुटकारा पाने के लिए सीखते हैं, न कि पाठ या विषय में सच्ची अभिरुचि दिखाकर।

4. दण्ड से छात्रों में तनाव, चिन्ता एवं थकान बढ़ जाती है।

5. दण्ड से वर्ग मनोबल टूट जाता है।

स्पष्ट है कि शिक्षा में पुरस्कार एवं दण्ड की भूमिका अलग-अलग है। दोनों के ही कुछ अच्छे प्रभाव हैं तो कुछ बुरे प्रभाव भी हैं जिसपर शिक्षकों तथा शिक्षा मनोवैज्ञानिकों का अधिक ध्यान गया है।

9.4.2 प्रशंसा और निन्दा (Praise and Blame)

बालकों की शिक्षा में प्रशंसा तथा निन्दा का अपना-अपना स्थान है। मौखिक पुरस्कार को प्रशंसा तथा मौखिक दण्डको निन्दा कहते हैं। सही क्रिया के लिए बालकों की प्रशंसा की जाती है और गलत क्रिया के लिए निन्दा। इन दोनों का प्रभाव सीखने पर पड़ता है। आरम्भ में प्रशंसा तथा निन्दा का प्रभाव शिक्षण पर लगभग समान होता है। लेकिन, बाद में प्रशंसा अधिक प्रभावशाली प्रमाणित होती है। इस प्रकार शिक्षण के लिए प्रशंसा अधिक प्रबल तथा उपयोगी प्रेरणा है।

ई० बी० हरलॉक ने 1925 में स्कूल के विद्यार्थियों पर एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग के आधार पर कई प्रकार के निष्कर्ष निकाले। पहली बात यह कि प्रशंसा तथा निन्दा दोनों से सीखने की प्रेरणा मिलती है। इसलिए प्रशंसा तथा निन्दित समूह के बालकों का शिक्षण उपेक्षित तथा नियंत्रित समूह की तुलना में मात्रा एवं गुण में अच्छा होता है। दूसरी बात यह कि आरम्भ में प्रशंसा अधिक प्रबल सिद्ध होती है, क्योंकि निन्दा का प्रभाव अस्थाई होता है जबकि प्रशंसा का असर स्थाई होता है। तीसरी बात यह कि जो बालक दूसरे बालकों को प्रशंसित या निन्दित होते देखता है वह भी सीखने की ओर प्रेरित होता है। यह बात उपेक्षित तथा नियंत्रित समूह के शिक्षकों की तुलना में स्पष्ट हो जाती है।

1932 में चेज ने प्रशंसा तथा निन्दा के प्रभाव को देखने के लिए कई प्रयोग किए और यह निष्कर्ष निकाला कि वयस्क बालक प्रशंसा निन्दा से अधिक प्रभावित होते हैं। प्रयोगों से यह भी प्रमाणित होता है कि प्रशंसा का प्रभाव तीव्र बुद्धि के बालकों से अधिक औसत तथा मन्द बुद्धि के बालकों पर पड़ता है। इसी तरह लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ प्रशंसा से अधिक प्रभावित एवं प्रेरित होती हैं। अत: प्रशंसा तथा निन्दा की प्रभावशीलता को शिक्षार्थियों की बुद्धि, आयु, यौन आदि के प्रसंग में आंकना चाहिए।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इस तथ्य के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए कहा कि शिक्षण पर प्रशंसा का प्रभाव हमेशा अनुकूल तथा निन्दा का प्रभाव हमेशा प्रतिकूल ही नहीं पड़ता है। उनका कहना है कि प्रशंसा तथा निन्दा का प्रभाव शिक्षण पर कैसा पड़ेगा, यह शिक्षक एवं छात्र के संबंध पर आधारित होगा। उन्होंने अपने प्रयोगात्मक अध्ययन के आधार पर पाया कि अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता है तथा ऐसे शिक्षक से जिसे छात्र पसंद करते हैं, निन्दा तथा फटकार का प्रभाव कैसा पड़ेगा, यह बहुत कुछ छात्र के व्यक्तित्व पर भी निर्भर करता है। जैसे कोलाडार्की (1955) ने अपने अध्ययन में पाया कि अन्तर्मुखी छात्रों को प्रशंसा देने से उनका शिक्षण उन्नत होता है परन्तु बहिर्मुखी छात्रों की निन्दा करने से उनका शिक्षण उन्नत होता है।

इस तरह स्पष्ट है कि शिक्षण पर प्रशंसा तथा सीखने के विभेदात्मक प्रभाव होते हैं। निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रशंसा तथा निन्दा दोनों को यदि विवेकपूर्ण एक साथ प्रयोग किया जाए तो शिक्षण पर अनुकूल प्रभाव पड़ सकता है।

9.4.3 परिणाम का ज्ञान (Knowledge of results)

परिणाम का ज्ञान भी एक महत्त्वपूर्ण उद्दीपन है जो बालकों को सीखने की प्रेरणा देता है। किसी विषय को सीखते समय जब उन्हें इस बात की जानकारी होती रहती है कि उनकी शैक्षिक प्रगति संतोषप्रद है तो इससे प्रोत्साहित होकर वे अपनी प्रगति को कायम रखने तथा उसमें भी प्रगति लाने का प्रयास करते रहते हैं। दूसरी ओर जब उन्हें यह मालूम होता है कि उनकी प्रगति संतोषप्रद नहीं है तो वे उसमें सुधार लाने का प्रयत्न करने लगते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में उनके शिक्षण में प्रगति होना स्वाभाविक ही है। वास्तव में संतोषप्रद परिणाम का ज्ञान पुरस्कार का काम करता है तथा असंतोषप्रद का ज्ञान दण्ड का काम करता है।

इस सम्बन्ध में कई प्रयोगात्मक अध्ययन हुए हैं जिनसे उपर्युक्त तथ्यों का प्रमाण मिलता है। थॉर्नडाइक (1932) ने हर तरह से समान बालकों को दो समूह में विभाजित करके उन्हें तीन इंच लम्बी रेखा सीखने के लिए कहा। बालकों की आँखों पर पट्टी बांध दी गयी। एक ओर रेखा खींच लेने के बाद पहले समूह के बालकों का बता दिया जाता था कि उनके द्वारा खींची गयी रेखा तीन इंच से कितनी बड़ी या छोटी थी। फिर उन्हें दूसरी बार रेखा खींचने के लिए कहा जाता था। यह क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक कि उन्होंने तीन इंच लम्बी रेखा खींच नहीं ली। दूसरे समूह ज्ञान से उन्हें अवगत नहीं कराया जाता था। देखा गया कि पहले समूह के बालकों ने दूसरे समूह की तुलना में बहुत थोड़े समय में ही तीन इंच लम्बी रेखा खींचना सीख लिया।

सौरेन्सन, हरबर्ट आदि के अध्ययनों से प्रमाणित होता है कि निश्चित उद्देश्य तथा परिणाम का ज्ञान आत्म प्रेरणा के लिए एक प्रबल उद्दीपन है। जड़ ने भी अपने प्रयोगों के आधार पर इस विचार का समर्थन किया है कि परिणाम के ज्ञान से सीखने की प्रेरणा मिलती है। सी० एल० स्टेसी का अध्ययन इस प्रसंग में काफी महत्त्वपूर्ण है।

पैनलेसीग ने 358 छात्रों को दो समूह प्रयोगात्मक समूह तथा नियंत्रिक समूह में विभाजित कर दिया। दोनों समूह के छात्रों को 21 सप्ताह तक प्रति सप्ताह 15 मिनट समान कार्य करने के लिए दिया गया। प्रयोगात्मक समूह को अपनी प्रगति की जानकारी लगातार मिलती रही, परन्तु नियंत्रित समूह को इससे बंचित रखा गया। देखा गया कि नियंत्रित समूह की तुलना में प्रयोगात्मक समूह के छात्रों ने अपने-अपने कार्य को जल्दी सीखा और अधिक अच्छी तरह सीखा।

बीलिडियू (1916) ने क्रियात्मक या गीत शिक्षण पर परिणाम के ज्ञान को देखने का प्रयास किया। उन्होंने देखा कि जिन प्रयोज्यों को लगातार परिणाम का ज्ञान दिया गया, उन्होंने अपने कार्य को जल्दी सीखा और जिन्हें इससे वंचित रखा गया उन्होंने देर से सीखा। इस तरह सेकर एवं यंग (1960) ने थॉर्नडाइक (1932) के प्रयोग को थोड़े परिमार्जन के साथ दोहराया। उन्होंने प्रयोगात्मक समूह तथा नियंत्रित समूह के प्रयोज्यों को

सरल कौशल सिखाने का प्रयास किया। प्रयोगात्मक समूह को परिणाम के ज्ञान से लगातार अवगत किया गया। मगर नियंत्रित समूह को इससें वंचित रखा गया। अन्त में देखा गया कि नियंत्रित समूह की अपेक्षा प्रयोगात्मक समूह ने अपने कार्य को जल्दी सीख लिया।

9.4.4 स्पर्द्धा, प्रतियोगिता तथा सहयोगिता (Rivalary, Competition, Co-operation)

स्कूल में वैयक्तिक उपलब्धि पर अधिक बल डालकर शिक्षक छात्रों में स्पर्द्धा तथा प्रतियोगिता का भाव उत्पन्न कर देते हैं। यहाँ शिक्षक स्पर्द्धा का प्रयोग छात्रों के बीच उत्पन्न स्वस्थ प्रतियोगिता के भाव से लेते हैं। स्पर्द्धा तथा प्रतियोगिता के भाव की उत्पत्ति छात्रों की अहम आवश्यकता तथा सामाजिक आवश्यकता से होती है जिसके चलते छात्र वर्ग में अपनी व्यक्तित्व उपलब्धि को अधिक प्राथमिकता देते हैं।

शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने प्रतियोगिता को वर्ग के शिक्षण में एक प्रोत्साहन के रूप में अध्ययन करने के लिए इसकी तुलना सहयोगिता से करते हुए किया है। इसका मूल कारण यह है कि सहयोगिता का प्रोत्साहन प्रतियोगिता के प्रोत्साहन के पूरक के रूप में होता है। इस सिलसिले में सबसे प्रमुख अध्ययन डियूदश (1951) द्वारा किया गया। इन्होंने अपने अध्ययन में 5-5 कार्य किया तथा 5 समूह सहयोगिता की अवस्था में शिक्षण कार्य किया। प्रतियोगिता की अवस्था में कहा गया कि जो छात्र दिए गए कार्य को जितनी ही जल्द सीख लेगा, उसे बड़ा इनाम या श्रेणी दी जाएगी जबकि सहयोगिता की अवस्था में कहा गया कि वे जितना ही अधिक आपस में मिल-जुलकर कार्य करेंगे, उन्हें एक बड़ा इनाम या श्रेणी दी जाएगी। परिणाम में देखा गया कि सहयोगिता की परिस्थिति में कार्यरत समूहों का शिक्षण एवं निष्पादन प्रतियोगिता की परिस्थिति में कार्यरत समूहों के शिक्षण एवं निष्पादन से अधिक श्रेष्ठ था। सिम्स (1928) ने एक अध्ययन किया जिसमें छात्रों में दो तरह की प्रतियोगिता एवं स्पर्द्धा के भाव उत्पन्न किए गए—वैयक्तिक प्रतियोगिता तथा समूह प्रतियोगिता। वैयक्तिक प्रतियोगिता एक छात्र से दूसरे छात्र के बीच थी जबकि समूह प्रतियोगिता छात्रों के दो समूहों के बीच थी। सिम्स ने इन दोनों तरह की प्रतियोगिता को सीखने पर पड़नेवाले प्रभाव का विश्लेषण किया और परिणाम में पाया कि व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धा से सीखने की प्रक्रिया का निष्पादन 34.7% बढ़ जाता है जबकि सामूहिक प्रतिस्पर्द्धा से निष्पादन मात्र 14.5% ही बढ़ता है।

प्रतियोगिता तथा सहयोगिता का तुलनात्मक अध्ययन मालर (1949) द्वारा भी किया गया और पाया गया कि प्रयितोगिता की परिस्थिति में छात्र अधिक मेहनत एवं लगन से शिक्षण कार्य करते हैं जबकि सहयोगिता की परिस्थिति में इन चीजों में थोड़ी कमी देखी जाती है। परन्तु इसके बावजूद मनोवैज्ञानिकों ने प्रयितोगिता को वर्ग के शिक्षण में एक प्रोत्साहन के रूप में अधिक उपयोग करने की सिफारिश इसलिए नहीं की है, क्योंकि इससे विशेषकर उन छात्रों में जो असफल हो जाते हैं, हीनता का भाव, विद्वेष का भाव, सांवेगिक तनाव आदि उत्पन्न हो जाता है जिससे उन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु, सहयोगिता के साथ ऐसी बात नहीं होती है। इससे छात्र अधिक कार्योन्मुखी हो जाते हैं और उनमें किसी प्रकार की चिन्ता तथा सांवेगिक तनाव आदि भी नहीं होता। फलस्वरूप इससे छात्रों की अभिरुचि शिक्षा एवं शिक्षण में बनी रहती है।

9.4.5 लक्ष्य निर्धारण व्यवहार या आकांक्षा-स्तर (Level of Aspiration)

वर्ग में बालक अपने लिए एक ऐसा लक्ष्य निर्धारित करते हैं जो उनकी उपलब्धि क्षमता के भीतर होता है। इस तरह के व्यवहार को लक्ष्य निर्धारिण व्यवहार कहा जाता है तथा निर्धारित लक्ष्य बालक की आकांक्षा स्तर को दिखाता है। इस तरह आकांक्षा स्तर भी एक प्रमुख प्रोत्साहन के रूप में कार्य करता है तथा इससे भी बालकों

का शिक्षण स्तर एवं निष्पादन स्तर काफी प्रभावित होता है। शिक्षकों का विशेष उत्तरदायित्व यह हो जाता है कि वे प्रत्येक छात्र को एक वास्तविक लक्ष्य विकसित करने में मदद करें। सियर्स (1940) के अध्ययन से पता चलता है कि बालकों का लक्ष्य निर्धारण व्यवहार बहुत हद तक आत्म-संप्रत्यय से प्रभावित होता है। जैसा छात्र अपने बारे में संप्रत्यय या प्रतिमा बनाकर रखते हैं वे अपने लिए वैसा ही लक्ष्य निर्धारित करते हैं। रॉटर (1944) ने एक अध्ययन किया जिसमें विकलांग छात्रों के लक्ष्य निर्धारण व्यवहार का अध्ययन किया गया। इसमें प्रत्येक छात्र को एक सरल पेशीय कौशल कार्य से संबंधित लक्ष्य निर्धारण करना था। परिणाम में देखा गया कि प्रत्येक ऐसे विकलांग छात्र ने अपने लिए एक निम्न आकांक्षा स्तर निर्धारित किया, हालांकि कार्य बहुत सरल था। इसका प्रमुख कारण यह था कि ऐसे छात्रों ने अपने बारे में एक ऐसी प्रतिमा बना रखी थी कि चूँकि वे विकलांग हैं, अत: कोई अच्छा पेशीय कार्य वे नहीं कर सकते। जॉनसन (1980) ने अपने अध्ययन में पाया कि जो छात्र अपने को बुद्धिमान तथा आत्म विश्वासी समझते हैं, वे वर्ग में अपनी शैक्षिक उपलब्धि के स्तर को ऊँचा रखते हैं तथा उनके सीखने या शिक्षण की गति अन्य छात्रों की तुलना में अधिक तेजी से होती है।

9.4.6 सामाजिक अनुमोदन (Social approval)

बालकों को अपने साथियों, माता-पिता एवं शिक्षकों से मिलनेवाला सामाजिक अनुमोदन भी एक महत्त्वपूर्ण प्रोत्साहन या अभिप्रेरण के रूप में कार्य करता है और उनका वर्ग शिक्षण इससे अधिक प्रभावित होता है। सामाजिक अनुमोदन में प्रशंसा, प्रशंसात्मक टिप्पणी, समूह द्वारा स्वीकृति, प्रशंसनीय दृष्टिपात आदि सम्मिलित होते हैं। उत्तर बाल्यावस्था में तथा साथ ही साथ किशोरावस्था में छात्रों को अपने साथियों के समूह से सामजिक अनुमोदन तथा शिक्षकों से सामाजिक अनुमोदन प्राप्त करने की इच्छा तीव्र होती है। सियर्स (1940) के अनुसार जब शिक्षक छात्रों के व्यवहारों को अपनी ओर अनुमोदित करते हैं और स्वीकृति प्रदान करते हैं तो इससे उनका मनोबल काफी बढ़ जाता है तथा ऐसे छात्रों की वर्ग उपलब्धि उन छात्रों की अपेक्षा अधिक हो जाती है जिन्हें शिक्षकों का अनुमोदन नहीं प्राप्त होता है। सियर्स ने यह भी बताया कि जिस छात्र का अपने साथियों के समूह द्वारा अधिक मान्यता प्राप्त होती है, उनकी भी वर्ग उपलब्धि उन छात्रों की तुलना में अधिक होती है जिन्हें अपने साथियों के समूह द्वारा मान्यता कम प्राप्त होती है या नहीं होती है। स्वार्ज (1972) के अनुसार शिक्षकों एवं साथियों के अनुमोदन मिलने पर उनमें आत्म-विश्वास तथा मनोबल अधिक हो जाता है जो उनके शिक्षण स्तर पर अनुकूल प्रभाव डालता है।

9.4.7 व्यावसायिक लक्ष्य (Occupational Goal)

व्यावसायिक लक्ष्य से तात्पर्य उस लक्ष्य से होता है जिसे छात्र अपनी पढ़ाई के माध्यम से प्राप्त करना चाहते हैं। अक्सर छात्र स्कूल अवस्था में इस तरह के व्यावसायिक लक्ष्य से अनभिज्ञ रहते हैं। परन्तु, शिक्षक उन्हें उनकी योग्यता तथा क्षमता को ध्यान में रखकर एक निश्चित व्यावसायिक लक्ष्य की ओर प्रेरित करते हैं। इससे छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता देखा गया है। स्ट्रौंग (1958) ने अपने अध्ययन के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि की है। क्राफोर्ड (1947) ने भी अपने अध्ययन के आधार पर यह बताया था कि परिपक्व लक्ष्य तथा एक निश्चित व्यावसायिक चयन छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि एवं शिक्षण स्तर पर अनुकूल प्रभाव डालता है।

इस तरह स्पष्ट है कि छात्रों के शिक्षण एवं शैक्षिक स्तर कई तरह के अभिप्रेरकों से प्रभावित होते हैं। उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वर्ग शिक्षण के इन अभिप्रेरकों की अहमियत काफी अधिक होती है और एक ईमानदार शिक्षक इन अभिप्रेरकों का सहारा लेकर छात्रों की उपलब्धि स्तर को ऊँचा करने का भरसक प्रयास करते हैं।

9.5 बालकों को प्रेरित करने के तरीके (Methods of Motivating Children)

शिक्षा में प्रेरणा के स्थान को निर्धारित कर देने के बाद एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि शिक्षा के प्रति बालकों को किस प्रकार उत्प्रेरित किया जाए। शैक्षिक दृष्टिकोण से यह समस्या गंभीर भी है और महत्त्वपूर्ण भी। शिक्षण के लिए उन सभी प्रविधियों की जानकारी अपेक्षित है जिनके द्वारा प्रेरणा को नियंत्रित करके शिक्षण प्रक्रिया को अधिक-से-अधिक प्रभावशील बना सकें। शिक्षक की सफलता इस बात में है कि वे विद्यार्थियों में अपने पाठ्य विषय को समुचित ढंग से पढ़ने की आवश्यकता, जिज्ञासा तथा अभिरुचि उत्पन्न करें और शिक्षा के वांछित उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता करें। शिक्षक अपने इस कर्त्तव्य को निभाने में निम्नलिखित तरीकों का उपयोग कर सकते हैं :•

1. सीखने की आवश्यकता शिक्षण का मूल स्रोत है। अत: बालकों को अपने पाठ्य विषय की ओर प्रेरित करने के लिए यह जरूरी है कि उसमें उस पाठ्य विषय के अध्ययन की आवश्यकता उत्पन्न हो। वे महसूस कर सकें कि उस विषय का अध्ययन उनके लिए बिल्कुल जरूरी है।

2. शिक्षार्थी को विश्वास दिलाया जाए कि शैक्षिक प्रगति के लिए प्रगति की इच्छा आवश्यक है।

3. शिक्षार्थी की शैक्षिक प्रगति के मापन के लिए उचित विधियों का इस्तेमाल किया जाए और समय-समय पर प्रगति की जानकारी उसे दी जाए।

4. शिक्षार्थी की सफलता को आगे भी जारी रखना चाहिए ताकि वह महसूस करे कि उसे प्रगति करना है।

5. शिक्षार्थी को बता दिया जाए कि दूसरे छात्रों की प्रगति उसकी प्रगति से कहीं अधिक है। यदि आवश्यक समझा जाए तो यह भी बताया जाए कि कुछ हताश शिक्षार्थियों से वह अधिक प्रगति कर चुका है।

6. शिक्षार्थियों के अभिलाषा स्तर तथा उपलब्धि स्तर में अधिक दूरी नहीं होनी चाहिए। इससे शिक्षार्थी हताश हो जा सकता है और उसकी शैक्षिक प्रगति रुक जा सकती है।

7. पाठ्य विषय का उद्देश्य स्पष्ट एवं निश्चित होना चाहिए ताकि शिक्षार्थी उस ओर प्रेरित तथा आकर्षित हो सके।

8. सफल शिक्षण के लिए विद्यार्थी को पुरस्कार दिया जाना चाहिए ताकि वह अपनी पाठ्य पुस्तक में और भी अधिक रुचि ले सके तथा अपनी शैक्षिक प्रगति को कायम रखने का प्रयास करे। यहाँ शिक्षक को स्मरण रखना होगा कि खासकर छोटे-छोटे बालकों के लिए मौखिक पुरस्कार अथवा प्रशंसा की अपेक्षा आर्थिक पुरस्कार अधिक उपयोगी होता है।

9. असफल शिक्षण के लिए विद्यार्थी को दण्ड दिया जाना चाहिए ताकि वह अपने में सुधार ला सके और अपने पाठ्य विषय को सही तौर पर पढ़ सके। लेकिन शारीरिक तथा मौखिक दण्ड के व्यवहार के पूर्व शिक्षक को चाहिए कि वह शिक्षार्थी के संवेगात्मक स्वास्थ्य तथा शैक्षिक स्तर की जानकारी प्राप्त कर सके। लेकिन कारण यह है दण्ड या पुरस्कार की प्रभावशीलता बहुत कुछ बालकों के संवेगात्मक स्वास्थ्य पर निर्भर करती है। टॉम्पसन के अध्ययन से स्पष्ट है कि बहिर्मुखी बालकों पर दण्ड का प्रभाव इतना नहीं पड़ता है जितना कि अन्तर्मुखी बालकों पर।

10. शिक्षार्थी अपने पाठ्य–विषय के प्रति प्रेरित हो सके तथा ज्यादा-से-ज्यादा अभिरुचि ले सके, इसके लिए स्पर्धा का इस्तेमाल भी आवश्यक है। लेकिन शिक्षक को चाहिए कि वह स्पर्धा को ईर्ष्या के रूप में व्यवहार

न होने दे, बल्कि स्वस्थ प्रतियोगिता के रूप में इस्तेमाल करे। चूँकि सामूहिक प्रतियोगिता की अपेक्षा वैयक्तिक प्रतियोगता अधिक प्रभावपूर्ण प्रेरक है, इसलिए शिक्षक को चाहिए कि बालकों की शिक्षा में वैयक्तिक प्रतियोगिता को ही अधिक प्रोत्साहित करे।

11. शिक्षार्थी में पढ़ने की प्रेरणा उत्पन्न करने के लिए यह भी आवश्यक है कि चलचित्र, हास्य नाटक, चित्रपट, आकाशवाणी आदि श्रव्य-दृश्य सामग्री की पूर्ण व्यवस्था शिक्षालय में हो।

12. बालकों को शिक्षा के प्रति प्रेरित करने हेतु एक आवश्यक बात यह है कि पाठ्यक्रम को निर्धारित करते समय उनकी अभिरुचि को ध्यान में रखा जाये। अभिरुचि के अनुकूल पाठ्यक्रम होने पर बच्चे सहज रूप से उसकी ओर उत्प्रेरित होते हैं।

इस पाठ्यक्रम में यह बात उल्लेखनीय है कि भिन्न-भिन्न श्रेणियों के छात्रों की अभिरुचि भिन्न-भिन्न होती है। जीमर (1940) के अनुसार बच्चों की सफल शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें उनकी अभिरुचि के अनुकूल विषयों की शिक्षा दी जाए। बोआएन्टन (1936) ने प्राथमिक विद्यालय के बच्चों का अध्ययन किया और पाया कि देहात तथा शहर के बच्चों की पसन्द में अन्तर है। इस तरह लड़के और लड़कियों की अभिरुचि में अन्तर पाया। शेक्सपियर (1936) ने पाया कि निम्न श्रेणी के बच्चे शारीरिक क्रियाओं में अधिक रुचि लेते हैं, जबकि 11-12 वर्ष के बच्चे उपलब्धियों की ओर अधिक प्रेरित होते हैं। सेन्इस (1940) ने अपने अध्ययन में पाया कि पाँचवीं तथा छट्ठी श्रेणी के बच्चों में प्रकृति, विज्ञान, परिवार, पशु, धर्म, व्यक्तिगत मामले की ओर अधिक अभिरुचि होती है। उन्होंने यह भी देखा कि नौवीं श्रेणी स्तर के बालकों में धर्म, राजनीति, परिवार, विवाह, व्यवसाय, विज्ञान आदि की ओर रुचि होती है। इस प्रकार उन्होंने उनके क्रम में भिन्नता पाई। साइमौन्डस (1936) के अनुसार नवयुवकों में मुद्रा, व्यक्तिगत आकर्षण, अध्ययन आदत, व्यक्तिगत तथा नैतिक गुण तथा जीवन दर्शन की ओर अधिक रुचि होती है। प्रिर्चड (1935) के अनुसार माध्यमिक विद्यालय में छात्रों में किसी कार्य को स्वतः करने की प्रेरणा अधिक पाई जाती है।

उपर्युक्त शोधी कार्यों के आलोक में हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि बालकों की शिक्षा के प्रति उत्प्रेरित करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके पाठ की व्यवस्था उनकी आयु तथा श्रेणी के अनुकूल की जाए तथा उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं अभिरुचि को ध्यान में रखा जाए। कोटिर्स (1935) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि बच्चों को शिक्षण के प्रति प्रेरित करने हेतु उसके परिपक्वता स्तर तथा शिक्षण स्तर के बीच तालमेल रखा जाए। एलिस (1969) के अनुसार बच्चों में सीखने की आवश्यकता उत्पन्न करने के लिए यह जरूरी है कि शिक्षण के विषय उनकी परिपक्वता एवं अभिरुचि के अनुकूल हों।

इस प्रकार उपर्युक्त उपायों का उपयोग करके शिक्षार्थियों को इस हद तक प्रेरित किया जा सकता है कि वे अपने पाठ्य-विषय में रुचि ले सकें तथा पढ़ने की आवश्यकता महसूस कर सकें।

9.6 सारांश

पाठ के इस भाग में पाठ्य सामग्री का सारांश प्रस्तुत किया जा रहा है–

1. अनौपचारिक शिक्षण से तात्पर्य वैसे शिक्षण से है जहाँ पाठक किसी कौशल को औपचारिक तरीके से नहीं सीखते हैं। इस प्रकार के शिक्षण के कई उदाहरण हैं जैसे–माता-पिता द्वारा शिक्षा, पास-पड़ोस द्वारा दी गई शिक्षा, साथियों के समूह से प्राप्त शिक्षा इत्यादि।

2. औपचारिक शिक्षण का तात्पर्य वैसे शिक्षण से है जहाँ शिक्षार्थी किसी अनुशासनात्मक वातावरण में कुछ खास तरह के नियमों एवं सिद्धांतों के अनुरूप किसी कौशल को सीखते हैं, इस तरह के शिक्षण के उदाहरण हैं कक्षा शिक्षण एवं क्षेत्र शिक्षण।

3. औपचारिक शिक्षण एवं अनौपचारिक शिक्षण में कई मुख्य अन्तर हैं जैसे–औपचारिक शिक्षण में औपचारिक अधिकारी होता है जबकि अनौपचारिक शिक्षण में इसकी आवश्यकता नहीं है। औपचारिक शिक्षण का वातावरण अनुशासन प्रधान नहीं होता है। औपचारिक शिक्षण से छात्रों के कौशलों में सुधार होता है जबकि अनौपचारिक शिक्षण से छात्रों के शिक्षण में कोई स्पष्ट सुधार नहीं होता है। औपचारिक शिक्षण ग्रहण करते समय छात्रों में मानसिक सतर्कता काफी अधिक होती है तथा उनमें प्रतियोगिता की भावना होती है परन्तु औपचारिक शिक्षा ग्रहण करते समय प्रतियोगिता की भावना कम तथा मानसिक विश्रांति अधिक होती है।

4. शिक्षण में कई महत्त्वपूर्ण अभिप्रेरणा एवं प्रोत्साहन का महत्व होता है। जैसे–पुरस्कार एवं दंड, प्रशंसा एवं निन्दा, परिणाम का ज्ञान, सीखने का उद्देश्य, स्पर्धा, प्रतियोगिता तथा सहयोगिता, लक्ष्य-निर्धारण व्यवहार या आकांक्षा स्तर, सामाजिक अनुमोदन, व्यावसायिक लक्ष्य इत्यादि महत्त्वपूर्ण कारक हैं जो शिक्षण में एक अहं भूमिका का निर्वाह करते हैं।

5. शिक्षण के लिए बालकों को प्रेरित करने के कई तरीके हैं जैसे–उन्हें पाठ्य विषय की ओर आकर्षित किया जाए, उनकी शैक्षिक प्रगति के मापन के लिए उपर्युक्त विधि का इस्तेमाल किया जाए और समय-समय पर इसकी प्रगति की जानकारी ली जाए। इसके अतिरिक्त इस बात का ध्यान रखा जाए कि उनके अभिलाषा स्तर तथा उपलब्धि स्तर के बीच अधिक दूरी न हो। उनकी रुचि को नियंत्रित एवं बढ़ावा के लिए पुरस्कार एवं दंड की व्यवस्था की जाए। इन तरीकों के उपयोग से बालकों की शिक्षा के प्रति अभिरुचि पैदा की जा सकती है।

9.7 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

औपचारिक, अनौपचारिक, अन्तःक्रिया, प्राधिकारी, कौशल, विशेष टोली, परिपक्वन, क्षेत्र शिक्षण, समयोजन, प्रोत्साहन, चयनात्मक, पुरस्कार, दंड, विभेदात्मक प्रभाव, प्रतियोगिता, सहयोगिता, लक्ष्य निर्धारण, आकांक्षा स्तर, सामाजिक अनुमोदन, व्यावसायिक लक्ष्य।

9.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

9.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **अनौपचारिक शिक्षण के आप क्या समझते हैं ?**
   उत्तर–देखें 9.1.1
2. **औपचारिक शिक्षण से आप क्या समझते हैं ?**
   उत्तर–देखें 9.2.1
3. **औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षण में अंतर स्पष्ट करें।**
   उत्तर–देखें 9.3

4. बालक को शिक्षण के लिए प्रेरित करने के तरीकों का संक्षिप्त विवरण दें ।
उत्तर–देखें 9.5

9.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षण से आप क्या समझते हैं ? इन दोनों के बीच अंतर स्पष्ट करें।
उत्तर–देखें 9.1, 9.2, 9.3

2. सीखने में अभिप्रेरणा एवं प्रोत्साहन के महत्त्व को समझाएँ।
उत्तर–देखें 9.4

3. बालक को प्रेरित करने के तरीके को समझाएँ।
उत्तर–देखें 9.5

9.9 प्रस्तावित पाठ

1. सुलेमान एवं सिन्हा : **आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान**
2. माथुर एस० एस० : **शिक्षा मनोविज्ञान**
3. ए० के० सिंह : **शिक्षा मनोविज्ञान**
4. Skinner : **Essentials of Educational Psychology**

◆◆◆

परीक्षा
Examination

पाठ-संरचना

10.0 उद्देश्य

10.1 परीक्षा का अर्थ

10.2 परीक्षा का शैक्षिक महत्त्व

10.3 प्रामाणिक अच्छी परीक्षा की विशेषताएँ

10.4 परीक्षा के प्रकार

10.4.1 मौखिक परीक्षा

10.4.2 लिखित परीक्षा

10.4.3 निबन्धात्मक परीक्षा

10.4.3.1 निबन्धात्मक परीक्षा के गुण

10.4.3.2 निबन्धात्मक परीक्षा के दोष

10.5 निबन्धात्मक परीखा में सुधार के उपाय

10.6 वस्तुनिष्ठ परीक्षा

10.6.1 शिक्षक निर्मित वस्तुनिष्ठ परीक्षण

10.6.2 मानकीकृत वस्तुनिष्ठ परीक्षण

10.6.3 वस्तुनिष्ठ परीक्षा के गुण

10.6.4 वस्तुनिष्ठ परीक्षा के दोष

10.7 निबन्धात्मक परीक्षा तथा वस्तुनिष्ठ परीक्षा का तुलनात्मक अध्ययन

10.8 सारांश

10.9 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

10.10 अभ्यास के प्रश्न

10.10.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

10.10.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

10.11 प्रस्तावित पाठ

10.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के कई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हैं। एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य पाठक को इस बात की जानकारी देना है कि परीक्षा के क्या अर्थ हैं, इसका क्या शैक्षिक महत्त्व है। एक ऐक्षिक परीक्षा की कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं इत्यादि। इसके अतिरिक्त परीक्षा के प्रकार, खासकर निबन्धात्मक परीक्षा एवं वस्तुनिष्ठ परीक्षा के बारे में विस्तारपूर्वक चर्चा की जाएगी। हमें विश्वास है इस पाठ सामग्री से पाठक काफी लाभान्वित होंगे। अन्य पाठ की भाँति पाठ्य सामग्री का सारांश, पाठ में प्रयुक्त शब्द कुंजी, अभ्यास के लिए प्रश्न एवं अन्य उपयोगी अध्ययन सामग्रियाँ भी सम्मिलित की जाएँगी।

10.1 परीक्षा का अर्थ

परीक्षा का एक बहुत ही व्यापक शब्द है, जिसका व्यवहार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विविध स्तरों पर विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। शैक्षणिक, सामाजिक, राजनैतिक, स्वास्थ्य एवं नैतिक सभी क्षेत्रों में इसका उपयोग करके हम अपने अभीष्ट की पूर्ति करते हैं। शिक्षक विद्यार्थियों के ज्ञानोपार्जन के मूल्यांकन में, राजनीतिज्ञ जनमत के मापन में, चिकित्सक रोगों के निदान में तथा नीतिशास्त्री जनविशिष्ट के नैतिक स्तर के परीक्षण में इसका उपयोग करते हैं और यदि सृष्टि को ईश्वर की एक लीला मान ली जाए तो फिर जीवन परीक्षा के अतिरिक्त है ही क्या ? लेकिन, हमारा संबंध यहाँ परीक्षा के इस व्यापक अर्थ से नहीं है। हमारा तात्पर्य केवल उस परीक्षा प्रणाली से है, जिसका व्यवहार शैक्षणिक संस्थाओं में विद्यार्थियों के ज्ञानोपार्जन के मान में किया जाता है। पाठशाला या स्कूल का उद्देश्य बच्चों की योग्यताओं को समुचित ढंग से विकसित करना है ताकि वे भावी जीवन में सफल प्रमाणित हो सकें। इसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बच्चों को पाठशाला या स्कूल भेजा जाता है। बच्चे अपने उद्देश्य की प्राप्ति में कहाँ तक सफल हो सके हैं, इसकी जानकारी शिक्षक के लिए आवश्यक है। इससे शिक्षक को अपने अध्यापन की सफलता का ज्ञान होता है तथा बच्चों के भविष्य के सम्बन्ध में योजना बनाने का अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न संस्थाओं के शैक्षणिक स्तर के मूल्यांकन तथा विद्यार्थियों के वर्गीकरण में भी मदद मिलती है। इसीलिए बच्चों के ज्ञानोपार्जन का परीक्षण आवश्यक है। जिस परीक्षण के द्वारा बच्चों के ज्ञान उपार्जन का मापन किया जाता है उसे ही परीक्षा कहते हैं। अत: परीक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है–"परीक्षा का तात्पर्य उन परीक्षणों से है जिनके द्वारा पाठ्यक्रम के विभिन्न महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों अथवा क्षेत्रों में विद्यार्थियों की उपलब्धि का मापन किया जाता है।" इस परिभाषा में निम्नलिखित बातें महत्त्वपूर्ण हैं :

(क) परीक्षा एक मापन प्रणाली है।

(ख) इसके द्वारा विद्यार्थियों के ज्ञानोपार्जन का मापन किया जाता है।

(ग) इससे विद्यार्थियों की पाठ्यक्रमिक उपलब्धियों का मापन होता है। इस प्रकार शिक्षक जान पाता है कि विद्यार्थी अपने पाठ्यक्रम के विषयवार उद्देश्यों से कहाँ तक लाभान्वित हो सकें।

10.2 परीक्षा का शैक्षिक महत्त्व

शिक्षा में परीक्षा का उपयोग कई कारणों से अनिवार्य है–

1. **अधिकारियों के लिए**–अधिकारियों के दृष्टिकोण से शिक्षा में परीक्षा का उपयोग बहुत ही आवश्यक है। इससे उन्हें अपनी संस्था की शैक्षणिक प्रगति का ज्ञान हो पाता है। विभिन्न वर्गों के विद्यार्थियों के परीक्षाफल को देखकर अधिकारियों को इस बात का ज्ञान हो पाता है कि उनकी संस्था उनकी योजना के अनुकूल

प्रगति पर है अथवा नहीं। यदि प्रगति संतोषप्रद नहीं होती है तो वे इसके कारणों का विश्लेषण करके उन्हें दूर कने का प्रयास करते हैं। परीक्षाफल के आधार पर बच्चों की प्रगति की सूचना उनके माता-पिता या अभिभावक तक भेजने में भी अधिकारियों को सुविधा होती है। इसके अतिरिक्त परीक्षाफल के आधार पर बच्चों के सम्बन्ध में जो शैक्षणिक ज्ञान-प्रमाण तैयार किए जाते हैं उनका उस समय बहुत ही उपयोग होता है जबकि बच्चों का स्थानान्तरण एक संस्था के दूसरी संस्था में कर दिया जाता है। नयी संस्था में प्रवेश करते समय बच्चों के प्रशिक्षण में इससे काफी सहायता मिलती है। इसी तरह आश्रय दाताओं को अपनी संस्था की प्रगति से अवगत कराने में अधिकारियों को सुविधा होती है। इससे अधिकारियों द्वारा नियुक्त शिक्षकों की व्यावहारिक कार्य कुशलता का उन्हें ज्ञान प्राप्त होता रहता है, जिसके आधार पर शिक्षकों को मर्यादित करने में उन्हें सहायता मिलती है।

2. आश्रय-दाताओं के लिए–परीक्षा का महत्त्व किसी संस्था के आश्रय दाताओं के दृष्टिकोण से भी कम नहीं है। स्कूल या पाठशाला के परीक्षाफल के आधार पर वे जान जाते हैं कि उस संस्था में अध्यापन कार्य समुचित रूप से चल रहा है अथवा नहीं। संतोषप्रद प्रगति होने पर उन्हें संतोष प्राप्त होता है और अधिक सहायता देने की प्रेरणा मिलती है। इसके विपरीत असंतोषप्रद प्रगति होने पर वे उसमें सुधार लाने का सक्रिय प्रयास करते हैं।

3. निरीक्षक के लिए–किसी स्कूल या पाठशाला के निरीक्षक को भी परीक्षा से कई प्रकार के लाभ पहुँचते हैं। निरीक्षक का मुख्य कर्तव्य अध्ययन के विकास में शिक्षक की सहायता करना है। इसके लिए आवश्यक है कि वे विद्यार्थियों की पाठ्यक्रमिक उपलब्धि से अवगत हों। इसी तरह पाठ्क्रम में परिवर्तन लाने में भी निरीक्षक को परीक्षाफल से बड़ी सहायता मिलती है। अध्यापन विधि के मूल्यांकन में भी परीक्षक को इससे मदद मिलती है।

4. शिक्षक के लिए–शिक्षकों के लिए भी परीक्षा का महत्त्व कम नहीं है। अपने स्कूल के परीक्षाफल के आधार पर शिक्षण विधि तथा अन्य अनेक शैक्षणिक समस्याओं के सम्बन्ध में अधिकारियों एवं निरीक्षकों को सही सुझाव देने में शिक्षकों को काफी सुविधा होती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विषयों में विद्यार्थियों के स्थान के निर्णय, उनकी शैक्षणिक उपलब्धि तथा आयु के सम्बन्ध में मूल्यांकन, उनकी शैक्षणिक आवश्यकताओं के विश्लेषण, सामान्य एवं मन्द बुद्धि के विद्यार्थियों में विभेद तथा उनकी शिक्षा सम्बन्धी कठिनाइयों के विश्लेषणों में शिक्षकों को परीक्षाफल से काफी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त अपने आत्म-निरीक्षण तथा छात्रों के सर्वेक्षण में भी पर्याप्त सहायता मिलती है।

5. विद्यार्थियों के लिए–विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से भी परीक्षा का उपयोग आवश्यक है। इससे उन्हें पढ़ने-लिखने की प्रेरणा मिलती है। परीक्षा के भय से विद्यार्थी अपने पाठ्य को पढ़ते हैं तथा उसके कठिन अंशों को केवल परीक्षा में सफल होने के लिए ही रट कर यादकर लेते हैं। हमारे दैनिक जीवन के निरीक्षण साक्षी हैं कि कुछ विद्यार्थी केवल परीक्षा के समय ही दिन-रात मेहनत करके पाठ्य को याद करते हैं। अत: कहना न होगा कि शिक्षा ग्रहण करने की ओर विद्यार्थियों को प्रेरित करने में परीक्षा एक प्रबल उद्दीपन का काम करती है। इसी तरह परीक्षा के फलस्वरूप विद्यार्थियों में प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होती है। स्मरण तथा संगठन की क्षमता में वृद्धि होती है तथा आत्म मूल्यांकन का अवसर मिलता है।

6. शैक्षणिक निर्देशन के लिए–शिक्षा में निर्देशन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सफल निर्देशन के लिए परीक्षा आवश्यक है। कारण यह है कि शिक्षा का उद्देश्य न केवल अध्ययन है बल्कि विद्यार्थियों के लिए प्रयोजन बनाना भी है। दूसरे शब्दों में विद्यार्थियों को निर्देशन देना है कि भविष्य में उन्हें किस प्रकार की शिक्षा उनके लिए उचित होगी। इस निर्देशन के लिए विभिन्न विषयों में विद्यार्थियों के ज्ञानोपार्जन या उपलब्धि की जानकारी

भी आवश्यक है। जिस विषय में अच्छा करने की अधिक संभावना होती है उसी विषय में विद्यार्थी विशेष को ज्ञान उपार्जन के लिए निर्देशन दिया जाता है। इसी तरह परीक्षाफल के आधार पर विद्यार्थियों को निर्देशन देने में सुविधा होती है कि वे उच्च शिक्षा के योग्य हैं अथवा नहीं।

7. व्यावसायिक निर्देशन के लिए–व्यवसाय के चयन में भी परीक्षा का महत्त्व कम नहीं है। व्यावसायिक सफलता में बुद्धि परीक्षण, अभिरुचि परीक्षण एवं मनोवृत्ति परीक्षण के साथ-साथ उपलब्धि परीक्षण का भी मुख्य स्थान है। जिस विषय में विद्यार्थी की उपलब्धि अधिक होती है उसी विषय से सम्बन्धित व्यवसाय के लिए निर्देशन दिया जाता है। जैसे–एक माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी की उपलब्धि गणित में अधिकतम हो तो इसे इंजीनियरिंग अथवा लेखा सम्बन्धी व्यवसाय के लिए निर्देशन दिया जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा में परीक्षा तथा मूल्यांकन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपर्युक्त आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ही अनेक त्रुटियों के बावजूद परीक्षा का उपयोग शैक्षणिक संस्थाओं में किया जाता है।

10.3 प्रामाणिक अच्छी परीक्षा की विशेषताएँ

प्रामाणिक अच्छी परीक्षा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. यथार्थता (Validity)— एक अच्छी परीक्षा के लिए उसमें यथार्थता का गुण वर्तमान होना आवश्यक है। किसी भी परीक्षा का निर्माण एक विशेष उद्देश्य से किया जाता है। फलतः जिस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए परीक्षा की रूपरेखा तैयार की जाती है यदि उससे उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है तो उसे यथार्थ परीक्षा कहते हैं। स्कीनर के शब्दों में "एक अच्छे मापन को उसके लक्ष्य अथवा उस लक्ष्य के एक पक्ष को मापना चाहिए जिसके मापने का दावा उसका निर्माता करता है।"

2. विश्वसनीयता (Reliability)—परीक्षा में विश्वसनीयता का गुण भी होना आवश्यक है। विश्वसनीय परीक्षा उसे कहते हैं जिससे एक योग्यता विशेष का मापन विभिन्न समय में एक ही सत्यता के साथ हो सके। परीक्षा की विश्वसनीयता की जाँच कई प्रकार से होती है। एक सहज तरीका यह है कि एक परीक्षा का उपयोग दो समय में किसी योग्यता विषय को मापने के लिए किया जाता है। दोनों समय में प्राप्तांकों के बीच जितना ही अधिक सह-सम्बन्ध होता है वह परीक्षा उतनी ही अधिक विश्वसनीय होती है।

3. वस्तुनिष्ठता (Objectivity)—वस्तुनिष्ठता भी एक अच्छी परीक्षा का आवश्यक गुण है। यह वस्तुनिष्ठता प्रश्नों के अर्थ तथा प्रश्नोत्तरों के मूल्यांकन दोनों में होना अनिवार्य है। प्रश्नों का निर्माण ऐसा हो कि उनके अर्थों को समझने में किसी प्रकार का संदेह न हो। इसी तरह प्रश्नोत्तर के मूल्यांकन का आधार स्पष्ट और वैज्ञानिक हो ताकि विभिन्न परीक्षकों द्वारा मूल्यांकन समान रूप से हो।

4. समग्रता (Cohesiveness)—परीक्षा में समग्रता का गुण होना अतिआवश्यक है। इससे इतने प्रश्न होने चाहिए जिससे विद्यार्थियों के ज्ञानोपार्जन का मापन समान रूप से हो सके। इसके बिना परीक्षा का उद्देश्य पूरा होना बड़ा ही कठिन है। वस्तुनिष्ठ परीक्षा में यह गुण वर्तमान है। इसलिए यह परीक्षा निबन्धात्मक परीक्षा से अधिक श्रेष्ठ समझी जाती है।

5. व्यावहारिकता (Practicability)—एक अच्छी परीक्षा के लिए व्यावहारिता एक आवश्यक गुण है। परीक्षा में यह गुण होना चाहिए कि उनका उपयोग आसानी से किया जा सके, विद्यार्थी प्रश्नों के अर्थ समझ सकें तथा प्रश्नों का मूल्यांकन सरल रूप से हो सके।

6. मानक (Norms)—परीक्षाफल की समुचित व्याख्या के लिए विशेष प्रकार के मानक की आवश्यकता होती है। मानक विभिन्न प्रकार के होते हैं; श्रेणी-प्राप्तांक, आयु प्राप्तांक, शतांशीय। प्राप्तांक तथा मानक

प्राप्तांक उच्च विद्यालय तथा विश्वविद्यालय के स्तरों पर शतांशीय प्राप्तांक तथा मानक प्राप्तांक का व्यापक रूप से व्यवहार होता है।

10.4 परीक्षा के प्रकार

10.4.1 मौखिक परीक्षा (Verbal Examination)

मौखिक परीक्षा में विद्यार्थियों से मौखिक प्रश्न किये जाते हैं और उनके ज्ञान उपार्जन का मूल्यांकन किया जाता है। इससे उनके अध्ययन का ज्ञान सहज रूप से हो जाता है। इसके अतिरिक्त, बच्चों की सूझ-बूझ भाषा अभिव्यक्ति तथा व्यावहारिक ज्ञान को जाँचने में सहायता मिलती है। इस प्रकार की परीक्षा के लिए न तो समय निश्चित रहता है और न कोई स्थान ही। अध्यापन के क्रम में ही शिक्षक अपने विद्यार्थियों से प्रश्न करके उनके ज्ञान की जाँच कर लेता है। इसी तरह यदि शिक्षक आवश्यक समझते हैं तो अलग-अलग विद्यार्थियों से प्रश्न करके उसकी परीक्षा लेते हैं।

स्पष्टत: यह परीक्षा बहुत ही सरल है। इसके लिये न तो प्रश्न पत्र बनाने की आवश्यकता होती है और न उत्तर पुस्तिकाओं के जाँचने की जरूरत होती है। विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से भी यह परीक्षा बहुत ही सहज है। इसके लिए उन्हें न तो अधिक तैयारी करने की आवश्यकता होती है और न कुछ लिखने की आवश्यकता होती है। इस परीक्षा का एक गुण यह है कि प्रश्न पूछते समय विद्यार्थियों के समस्त व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण हो जाता है।

लेकिन इस परीक्षा प्रणाली में कई प्रकार के दोष भी पाए जाते हैं। (क) इसके द्वारा विद्यार्थियों के ज्ञान उपार्जन का ठीक-ठीक मापन नहीं हो पाता है। इसके कई कारण हैं। पहली बात यह है कि कुछ विद्यार्थी इतने संकोचशील होते हैं कि प्रश्नों के उत्तर जानते हुए भी नहीं दे पाते हैं। दूसरी बात यह है कि शिक्षक की उपस्थिति से कुछ बालक घबड़ा जाते हैं और इस घबड़ाहट के कारण प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते हैं। तीसरी बात यह है कि कुछ बालकों में भाषा दोष होता है जिसके कारण वे प्रश्नों के उत्तर जानते हुए भी समुचित रूप से नहीं दे पाते हैं।

(ख) इस परीक्षा प्रणाली का एक बहुत बड़ा अवगुण यह है कि इसमें पक्षपात की संभावना अधिक होती है। विद्यार्थियों के मूल्यांकन पर शिक्षक की पूर्णधारणा तथा अन्य आत्मगत तत्वों का गहरा प्रभाव पड़ता है। आर० एस० कार्टर के अध्ययन से इस बात का प्रमाण मिलता है कि शिक्षक बालिकाओं की सफाई, उनके बोलने के अन्दाज, अनुशासन आदि से प्रभावित होकर अन्य बालकों की अपेक्षा उन्हें अधिक अंक दे देते हैं।

10.4.2 लिखित परीक्षा (Written Exam.)

मौखिक परीक्षा की त्रुटियों को ध्यान में रखकर ही लिखित परीक्षा का निर्माण किया गया। अत: यह परीक्षा प्रणाली उन सभी त्रुटियों से मुक्त है। इसमें विद्यार्थियों को कुछ प्रश्नों के उत्तर निश्चित समय के भीतर ही लिखने पड़ते हैं। उनके प्रश्नोत्तर के आधार पर उनकी योग्यता का मूल्यांकन किया जाता है। लिखित परीक्षा के मुख्य दो प्रकार होते हैं। वे हैं-(क) निबन्धात्मक परीक्षा तथा वस्तुनिष्ठ परीक्षा। अब हम इन दोनों का अलग-अलग वर्णन करेंगे।

10.4.3 निबन्धात्मक परीक्षा (Essay type Exam.)

परीक्षा की यह प्रणाली पहले भी प्रचलित थी और आज भी इसका उपयोग व्यापक रूप से होता है। पाठ्यक्रम से अधिकारियों या शिक्षकों द्वारा कुछ प्रश्न (प्राय: दो-दस) चुन लिए जाते हैं। प्रयास किया जाता

है कि प्रश्नों का चयन समग्र रूप से हो सके। विभिन्न स्वरूप के प्रश्नों का निर्माण किया जाता है। कुछ प्रश्न सरल होते हैं और कुछ बड़े कठिन होते हैं। कुछ प्रश्न एक ही वाक्य के होते हैं और कुछ कई खण्डों में विभाजित होते हैं। इसी तरह कोई प्रश्न वर्णनात्मक तथ कोई विवेचनात्मक होता है। इन विविध प्रश्नों में से छात्रों को केवल पाँच या छः प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं। इसके समय (प्रायः तीन-चार घंटे) निश्चित रहते हैं। विद्यार्थियों की उत्तरपुस्तिकाओं की जाँच परीक्षक करते हैं। परीक्षक द्वारा जो अंक दिए जाते हैं, उसी आध ार पर विद्यार्थियों को सफल या असफल घोषित किया जाता है। यह घोषणा कहाँ तक यथार्थ होती है, इसका निर्णय निबन्धात्मक परीक्षा के गुणों तथा अवगुणों के विवेचन के बाद ही हम कर सकेंगे।

10.4.3.1 निबन्धात्मक परीक्षा के गुण या लाभ

निबन्धात्मक परीक्षा के गुण अथवा लाभ निम्नलिखित हैं :

1. सुलभ विधि—विद्यार्थियों के ज्ञानोपार्जन को जाँचने की यह एक सुलभ विधि है। इसके निर्माण में शिक्षकों या अधिकारियों को अधिक कठिनाइयों का सामना करना नहीं पड़ता है। प्रत्येक पाठ्य से एक या दो प्रश्न चुन लिया जाता है और विद्यार्थियों से निश्चित समय में पाँच-छः प्रश्नों के उत्तर लिखने के लिए कहा जाता है। उनके प्रश्नोत्तर के आधार पर उनकी योग्यता की जाँच हो जाती है।

2. व्यापकता—इस परीक्षा में विद्यार्थियों को अपने विचारों तथा योग्यताओं को व्यापक रूप में व्यक्त करने का अवसर मिलता है। उन्हें स्वतंत्रता होती है कि वे किसी प्रश्न का उत्तर अपनी भाषा में अपने ढंग से दे सकें। प्रश्नों के उत्तर तैयार करते समय विद्यार्थियों को अपने सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को पढ़ना पड़ता है, क्योंकि सम्पूर्ण पाठ्यक्रम से प्रश्नों के आने की संभावना होती है। इस प्रकार इस परीक्षण के द्वारा पाठ्यक्रम के सभी अंशों का मापन हो जाता है।

3. संगठन एवं विवेक योग्यता की बुद्धि—निबन्धात्मक परीक्षा के लिए तैयारी करने में विद्यार्थियों को अपने पाठ्यक्रम के आवश्यक अंशों को चुन कर संगठित करना पड़ता है तथा अनावश्यक अंशों को छोड़ देना पड़ता है। इस प्रकार संगठित तथ्यों को भाषाबद्ध करके प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है। इससे विद्यार्थियों की संगठन योग्यता के विकास में सहायता मिलती है। इसी तरह उनकी विवेक योग्यता में भी वृद्धि होती है। बिना विवेक के पाठ्यक्रम के आवश्यक तथा अनावश्यक अंशों में भेद करना संभव नहीं है।

4. रचनात्मक चिंतन की वृद्धि—निबन्धात्मक परीक्षा से विद्यार्थियों के रचनात्मक चिंतन के विकास में सहायता मिलती है। प्रश्नपत्र में कुछ प्रश्न ऐसे रहते हैं जिन्हें विद्यार्थियों को अपनी बुद्धि तथा योग्यता के अनुसार विकसित करना पड़ता है। जैसे—किसी विषय के कुछ सूचित अंशों के आधार पर विद्यार्थियों को एक लेख लिखने अथवा एक कहानी की रचना करने के लिए कहा जाता है। स्पष्ट है कि ऐसे प्रश्नों के समाधान से उनमें रचनात्मक चिंतन के विकसित होने में सहायता मिलती है।

5. भाषा का मूल्यांकन—इस परीक्षा से विद्यार्थियों की वास्तविक योग्यता के साथ-साथ उनकी भाषा की भी जाँच हो जाती है। एक ओर तथ्यों के स्मरण एवं संगठन का मापन होता है और दूसरी ओर भाषा की शुद्धता एवं शैली की परीक्षा होती है। इसलिए प्रश्नोत्तरों की जाँच करते समय भाषा की शुद्धता को भी ध्यान में रखा जाता है।

6. व्यक्तित्व मूल्यांकन—निबन्धात्मक परीक्षा से विद्यार्थियों के व्यक्तित्व मूल्यांकन एवं जीवनशैली का भी ज्ञान हो जाता है। विशेष रूप से विवेचनात्मक परीक्षा के उत्तर देते समय छात्र अपनी जीवनशैली से प्रभावित होते हैं। इसी तरह जिन प्रश्नों के उत्तर में रचनात्मक चिंतन की आवश्यकता होती है उनके द्वारा भी विद्यार्थियों के शीलगुण की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टिकोण से निबन्धात्मक परीक्षा को यदि प्रक्षेपण परीक्षण कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि निबन्धात्मक परीक्षा की उपर्युक्त अनेक उपयोगिताएँ हैं जिनके कारण इसका उपयोग आज भी व्यापक रूप से होता है।

10.4.2 निबन्धात्मक परीक्षा के दोष या सीमाएँ

निबन्धात्मक परीक्षा में अनेक अवगुण पाए जाते हैं। सच्ची बात यह है कि अवगुणों की तुलना में इसके गुण नगण्य हैं। वस्तुतः इसमें निम्नलिखित अवगुण पाए जाते हैं :

1. सीमित क्षेत्र–निबन्धात्मक परीक्षा का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। इसमें प्रायः दस या बारह प्रश्न पूछे जाते हैं जिनमें परीक्षार्थियों को तीन घंटे के भीतर पाँच या छः प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं। स्पष्ट है कि प्रश्नों के इस सीमित क्षेत्र में पाठ्यक्रम के सभी अंगों को सम्मिलित करना सम्भव नहीं है। इसलिए प्रश्न चुनते समय पाठ्यक्रम के बहुत से अंश छूट जाते हैं।

2. रटने पर बल–इस परीक्षा प्रणाली से विद्यार्थियों को रटने का प्रोत्साहन मिलता है। प्रश्नोत्तरों की जाँच करते समय परीक्षक यह नहीं देखता कि उत्तर रटकर लिखे गए हैं अथवा समझकर। इसलिए विद्यार्थी अपने पाठ्यक्रम या उसके कुछ अंशों को तोते की तरह रट लेते हैं और अपनी उत्तर पुस्तिका में उसी तरह लिखकर अच्छे अंक प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन, इससे उनकी वास्तविक योग्यता का मापन नहीं हो पाता है।

3. अनुमान की सफलता या चूक–इस परीक्षा से विद्यार्थियों को अनुमान एवं अटकलबाजी की ओर अग्रसर होने का प्रोत्साहन मिलता है। परीक्षा के पूर्व प्रश्नों के सम्बन्ध में तरह-तरह के अनुमान लगाए जाते हैं और इसके फलस्वरूप पाठ्यक्रम के उन्हीं अंशों को पढ़ा जाता है जिससे प्रश्न आने की संभावना अधिक होती है। परीक्षा में यदि अनुमानित प्रश्न आते हैं तो विद्यार्थी अच्छे अंक प्राप्त कर लेते हैं अन्यथा उत्तीर्णांक पर भी आफत आ जाती है।

4. प्रश्नों का संदिग्ध अर्थ–प्रश्न-पत्र में कुछ प्रश्नों की भाषा ऐसी द्विअर्थी होती है कि उनका अर्थ विभिन्न परीक्षार्थी विभिन्न रूप में लगा लेते हैं और उसी के अनुकूल प्रश्नोत्तर लिखते हैं। फल यह होता है कि विषय वस्तु का ज्ञान रहते हुए भी उनका उत्तर गलत हो जाता है और वे असफल हो जाते हैं या कम अंक प्राप्त करते हैं। इसीलिए स्कीनर ने कहा है–"जब तक प्रश्नों का निर्माण स्पष्ट तथा एकअंशों में नहीं होगा, विद्यार्थी उनकी व्याख्या गलत ढंग से कर सकते हैं।

5. समय एवं श्रम का अधिक व्यय–निबन्धात्मक परीक्षा में समय तथा श्रम का व्यय अधिक होता है। परीक्षा भवन में तीन-चार घंटे तक विद्यार्थियों को लगातार प्रश्नों के उत्तर लिखने पड़ते हैं। इसी तरह उत्तर पुस्तिकाओं को जाँचने में परीक्षकों को काफी समय देना पड़ता है ओर कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। इसके फलस्वरूप परीक्षाफल की घोषणा में बहुत विलम्ब हो जाता है।

6. स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद–परम्परागत परीक्षा प्रणाली शिक्षक तथा विद्यार्थियों दोनों के स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है। प्रायः देखा जाता है कि विद्यार्थी अपने अधिक समय को खेल-कूद में बिताते हैं और अन्तिम समय में परीक्षा की तैयारी के लिए दिन-रात कड़ी मेहनत करते हैं। इससे उनका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य गिर जाता है। इसी तरह थोड़े समय में सैकड़ों उत्तर पुस्तिकाओं को जाँचने के लिए परीक्षकों को काफी परिश्रम करना पड़ता है। इसका बहुत ही बुरा प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ता है।

7. मूल्यांकन का अवैज्ञानिक आधार–निबन्धात्मक परीक्षा की सबसे बड़ी त्रुटि उत्तर पुस्तिकाओं को जाँचने का अवैज्ञानिक आधार है। उत्तरों को जाँचते समय परीक्षकों के सामने कोई समान मापदण्ड नहीं होता है। सभी परीक्षकों का अलग-अलग व्यक्तिगत मापदण्ड होता है। इसलिए, एक ही उत्तर पर विभिन्न परीक्षकों द्वारा विभिन्न अंक दिए जाते हैं। यहाँ तक कि एक ही परीक्षक विभिन्न समय में एक ही उत्तर पर विभिन्न अंक देता है। इस संदर्भ में निम्नलिखित कारण उल्लेखनीय हैं–

(क) परीक्षक का व्यक्तिगत दृष्टिकोण–प्रत्येक परीक्षक का अपना एक विशेष दृष्टिकोण होता है, जिसे वह मापदण्ड मान कर उत्तर पुस्तिकाओं को जाँचता है। एक ही उत्तर एक परीक्षक के दृष्टिकोण के अनुकूल तथा दूसरे के दृष्टिकोण के प्रतिकूल हो सकता है। अत: उसी उत्तर पर एक परीक्षक अधिक अंक देता है तथा दूसरा कम अंक देता है। ऐसी हालत में उत्तरों के मूल्यांकन का मापदण्ड समान कैसे हो सकता है ?

(ख) परीक्षक की पूर्वधारणा एवं पक्षपात–परीक्षक की पूर्वधारणा या पक्षपात का गहरा प्रभाव प्रश्नोत्तर के मूल्यांकन पर पड़ता है। तथ्यों के संगठन, लिखने की शैली, उत्तर आरम्भ करने तथा समाप्त करने का तरीका, उत्तर की लम्बाई इत्यादि के सम्बन्ध में परीक्षक पहले से ही एक धारणा बनाकर रखता है। यदि उत्तर उसकी पूर्वधारणा के अनुकूल होता है तो वह अधिक अंक देता है और जब प्रतिकूल होता है तो कम अंक देता है। इसलिए कहते हैं कि पूर्वधारणा के कारण मूल्यांकन का आधार अवैज्ञानिक हो जाता है।

(ग) परीक्षक की मनोदशा–उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच करते समय परीक्षक की वर्तमान मानसिक दशा का प्रभाव मूल्यांकन पर पड़ता है। पारिवारिक, सामाजिक या वैयक्तिक समस्याओं के कारण जब परीक्षक की चितवृत्ति अच्छी नहीं रहती है तो ऐसी हालत में उत्तरों की जाँच समुचित ढंग से नहीं हो पाती है। अत: अंकों की कमी-बेशी उत्तरों के गुण पर नहीं, परीक्षक की चितवृत्ति पर निर्भर करती है।

(घ) अपर्याप्त समय–परीक्षकों को उत्तर पुस्तिका की जाँच के लिए पर्याप्त समय नहीं मिलता है। प्राय: तीन सप्ताह के भीतर ही सैकड़ों कापियों को जाँचना पड़ता है। इसमें भी दो सप्ताह तो निर्देशन के आने तथा प्रधान परीक्षक का अनुमोदन कराने में ही निकल जाते हैं। एक सप्ताह में परीक्षक जैसे-तैसे कापियों को जाँच कर निश्चित समय के भीतर ही भेज देता है। परीक्षक की इस जल्दबाजी में समुचित मूल्यांकन की मात्र कल्पना ही की जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निबन्धात्मक परीक्षा में कई प्रकार की त्रुटियाँ हैं, जिनके कारण इस परीक्षा से विद्यार्थियों की वास्तविक योग्यता का मापन संभव नहीं है। फिर भी, यदि इन त्रुटियों को दूर करने के लिए ठोस कदम उठाया जाए तो इस परीक्षा प्रणाली से हम बहुत हद तक लाभान्वित हो सकते हैं।

10.5 निबन्धात्मक परीक्षा में सुधार के उपाय (Measures of Improvement in Essay Type Examination)

निबन्धात्मक परीक्षा में सुधार के निम्नलिखित मुख्य उपाय हैं–

1. प्रश्न रचना में सुधार–निबन्धात्मक परीक्षा की उपयोगी तथा वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए प्रश्नों की रचना में सुधार लाना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में कई बातें महत्त्वपूर्ण हैं। प्रश्नों का निर्माण करते समय सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए प्रश्नों की संख्या बढ़ा दी जा सकती है। जितने समय में परीक्षार्थी पाँच या छ: लम्बे-लम्बे प्रश्नों के उत्तर लिखते हैं उतने ही समय में बीस या पचीस छोटे-छोटे प्रश्नों के उत्तर आसानी से लिख सकते हैं। दूसरी बात यह कि प्रश्न इस प्रकार के हों जिनसे विद्यार्थी की स्मृति के साथ-साथ उनकी सूझ तथा विवेचनात्मक क्षमता की भी जाँच हो सके। तीसरी बात यह कि प्रश्नों का निर्माण करते समय विद्यार्थी की व्यक्तिगत भिन्नताओं को ध्यान में रखा जाए। कुछ प्रश्न कठिन तथा कुछ आसान हों ताकि सभी स्तरों के विद्यार्थी उत्तर दे सकें। और चौथी बात यह कि प्रश्नों की भाषा स्पष्ट हो ताकि उनके अर्थ समझने में संदिग्धता उत्पन्न न हो।

2. मूल्यांकन में सुधार–उत्तर पुस्तिकाओं के मूल्यांकन में सुधार करके निबन्धात्मक परीक्षा की त्रुटियों को एक बड़ी हद तक दूर किया जा सकता है। परीक्षकों को चाहिए कि एक साथ मिल कर एक समान मापदण्ड बना लें और इसी के अनुसार प्रश्नोत्तरों की जाँच करें। किसी प्रश्न के उत्तर के लिए जो अपेक्षित बातें हों, उन्हें

लिख लिया जाए तथा प्रत्येक के लिए अंक निर्धारित कर लिया जाए। ऐसा करने से मूल्यांकन का मापदण्ड बहुत अंशों में समान तथा वैज्ञानिक हो सकेगा।

3. परीक्षक में सुधार–निबन्धात्मक परीक्षा में उपयोगी बनाने के लिए परीक्षकों में सुधार भी आवश्यक है। उत्तरों की जाँच करते समय परीक्षक को पूर्वधारणा, पक्षपात तथा अन्य व्यक्तिगत तत्त्वों से अछूत होना चाहिए। उत्तरों को सावधानी से पढ़ना चाहिए ताकि वह जान सकें कि परीक्षार्थी ने अपेक्षित बातों को लिखा है अथवा केवल बात बनायी है। इसी तरह परीक्षक को चाहिए कि उत्तरों की जाँच उस समय करें जबकि वे मानसिक तथा शारीरिक रूप से स्वस्थ हों।

4. मूल्यांकन के लिए पर्याप्त समय–उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच के लिए परीक्षकों को पर्याप्त समय मिलना चाहिए। अपर्याप्त समय होने के कारण परीक्षक उत्तरों की जाँच समुचित ढंग से करने में असमर्थ होते हैं। अतएव चाह कर भी वे परीक्षार्थियों के साथ न्याय नहीं कर पाते हैं। यदि उन्हें पर्याप्त समय मिल जाए तो वे अपने कर्त्तव्य पूरा करने में समर्थ हो सकते हैं।

5. अध्यापन में सुधार–निबन्धात्मक परीक्षा की त्रुटियों को दूर करने तथा इसकी उपयोगिता को बढ़ाने के लिए अध्यापन में सुधार करना भी आवश्यक है। किसी भी विषय पर वे टिप्पणी लिखवाने के बदले उसके विभिन्न पहलुओं का विवेचन करना, उसमें विद्यार्थियों की अभिरुचि जगाना तथा उनकी योग्यता को सूझ के माध्यम से विकसित कर देना अधिक लाभप्रद है। इससे एक ओर विद्यार्थियों को समझ कर सीखने का प्रोत्साहन मिलेगा और दूसरी ओर रटकर याद करने की प्रवृत्ति कम जाएगी। इस तरह इस परीक्षा प्रणाली से उनकी वास्तविक योग्यता का मापन हो सकेगा।

6. अन्य परीक्षाओं का उपयोग–निबन्धात्मक परीक्षा के साथ-साथ अन्य वस्तुनिष्ठ परीक्षण तथा मौखिक परीक्षण का व्यवहार आवश्यक है। वस्तुनिष्ठ परीक्षा के आधार पर प्राप्त अंकों से निबन्धात्मक परीक्षण की विश्वसनीयता तथा बैधता को निर्धारित करने में बड़ी सहायता मिलती है। वस्तुनिष्ठ परीक्षण के विभिन्न प्रकारों का वर्णन आगे किया जायेगा। इसी तरह मौखिक परीक्षा का व्यवहार करके भी निबन्धात्मक परीक्षा की उपयोगिता बढ़ाई जा सकती है। इस परीक्षा प्रणाली का वर्णन पहले ही हो चुका है।

7. द्विपरीक्षक पद–द्विपरीक्षक पद के व्यवहार से निबन्धात्मक परीक्षा की बहुत सी त्रुटियाँ दूर हो सकती हैं। अत: व्यावहारिक परीक्षा की तरह सैद्धान्तिक परीक्षा में भी द्विपरीक्षक पद का चलन होना चाहिए, इससे प्रश्नोत्तर के मूल्यांकन पर परीक्षकों के व्यक्तिगत तत्वों का प्रभाव बहुत ही कम पड़ता है। कारण यह है कि प्रत्येक परीक्षक को इस बात का भय रहता है कि कहीं उसके द्वारा दिए गए अंक दूसरे परीक्षक के द्वारा दिए गए अंकों से बहुत कम या अधिक न हो जाएँ।

8. बाजारू पुस्तकों पर रोक–अधिकारियों को चाहिए कि गेसपेपर, नोटबुक आदि बाजारू पुस्तकों पर रोक लगा दें। ऐसा होने से विद्यार्थियों को बाध्य होकर अपने वर्ग की निर्धारित पुस्तकों का अध्ययन करना पड़ेगा। इस प्रकार उनकी योग्यता समग्र रूप से विकसित हो सकेगी।

9. योग्य परीक्षकों का चयन–निबन्धात्मक परीक्षा को उपयोगी बनाने के लिए तथा विद्यार्थियों की वास्तविक योग्यता की जाँच के लिए योग्य परीक्षकों का चुनाव भी आवश्यक है। उत्तर पुस्तिकों की जाँच के लिए योग्य तथा इच्छुक परीक्षकों की नियुक्ति होनी चाहिए। कुछ परीक्षक अनुभवी नहीं होने के कारण परीक्षार्थियों के साथ न्याय करने में असमर्थ होते हैं। अत: ऐसे परीक्षकों की नियुक्ति नहीं होनी चाहिए।

10. केन्द्रित मूल्यांकन–उत्तर पुस्तिकाओं के केन्द्रित मूल्यांकन से समय तथा श्रम में भी बचत होगी और पैरवी तथा सिफारिश की संभावना भी कम होगी।

उपर्युक्त बातों पर यदि अमल किया जाए तो निबन्धात्मक परीक्षा की बहुत सी त्रुटियाँ दूर हो सकती हैं तथा इससे विद्यार्थियों की वास्तविक योग्यता की जाँच बहुत हद तक हो सकती है।

10.6 वस्तुनिष्ठ परीक्षा (Objective Type Examination)

परम्परागत निबन्धात्मक परीक्षा की तरह वस्तुनिष्ठ परीक्षा भी एक प्रकार की लिखित परीक्षा है, लेकिन यह परीक्षा प्रणाली उन सभी त्रुटियों से मुक्त है, जो परम्परागत परीक्षा में पाई जाती है। इसका निर्माण करते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है कि इसमें पाठ्यक्रम के सभी अंशों का समावेश हो सके। इसके लिए प्रश्नों की संख्या अधिकाधिक रखी जाती है। प्रश्न इतने छोटे होते हैं कि उनक उत्तर केवल ''हाँ'' या ''नहीं'' तथा ''शुद्ध'' या अशुद्ध का चिह्न लगाकर देना पड़ता है। कुछ प्रश्नों में रिक्त स्थानों को दिए गए शब्दों में से चुनकर भरना पड़ता है। इस प्रकार विद्यार्थी लगभग सौ प्रश्नों का समाधान केवल आधा घंटा या पौन घंटा के भीतर कर लेते हैं, प्रत्येक शुद्ध उत्तर के लिए एक अंक दिया जाता है। परीक्षकों को अंक देने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। मूल्यांकन पर परीक्षक के व्यक्तिगत तत्वों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

10.6.1 शिक्षक निर्मित परीक्षा उसे कहते हैं जो शिक्षकों द्वारा निर्मित होती है। इसके अतिरिक्त स्तरमानित तथा मानकृत परीक्षा विशेषज्ञों द्वारा निर्मित होती है। शिक्षक निर्मित परीक्षा का व्यवहार विशिष्ट रूप से तथा स्तरमानित परीक्षा का व्यवहार सामान्य रूप से होता है। शिक्षक निर्मित परीक्षा के कई प्रकार होते हैं, जिनकी समीक्षा यहाँ आवश्यक है।

शिक्षक निर्मित वस्तुनिष्ठ परीक्षा के प्रकार–शिक्षक द्वारा निर्मित वस्तुनिष्ठ परीक्षा के निम्नलिखित प्रकार हैं–

1. सत्यासत्य परीक्षण–इस प्रकार की वस्तुनिष्ठ परीक्षा में सत्य या असत्य लिखकर शुद्ध के चिन्ह (झ)या अशुद्ध चिन्ह (ञ) लगाकर उत्तर देना पड़ता है। कभी-कभी किसी कथन के सामने सत्य या असत्य लिखा हुआ रहता है और विद्यार्थियों को किसी एक के नीचे चिन्ह लगाकर उत्तर देना पड़ता है।

उदाहरण–निम्नलिखित वाक्यों को पढ़ें। यदि वे सही हों तो सत्य के नीचे और यदि गलत हों तो असत्य के नीचे चिन्ह लगा दें–

1. स्त्री तथा पुरुष की बुद्धि में काफी अन्तर है– सत्य असत्य
2. चन्द्रमा पर जीव-जन्तु पाए गए हैं सत्य असत्य
3. ताजमहल नूरजहाँ की यादगार है सत्य असत्य

लेकिन, इस तरह की परीक्षा अवैज्ञानिक होती है। यदि कोई विद्यार्थी बिना सोचे-समझे निशान लगाता चला जाए या किसी एक ही शब्द के नीचे चिन्ह लगाता जाए तो भी वह कुछ अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। इससे बचने के लिए एक सरल तरीका यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी के गलत उत्तरों को उसके सही उत्तरों में से घटा लिया जाता है और जो शेष बचता है वही उसका वास्तविक प्राप्तांक समझा जाता है।

2. रिक्त स्थान पूर्ति परीक्षण–इस प्रकार के परीक्षण के प्रश्नों में रिक्त स्थान छोड़ दिए जाते हैं, जिन्हें विद्यार्थियों को भरना पड़ता है।

उदाहरण–

1. भारतवर्ष एक..... है।

2. मिसीसिपी एक ..... है।

3. सिपाही विद्रोह ..... है।

इस परीक्षण में भी सत्यासत्य परीक्षण की तरह उत्तरों का मूल्यांकन किया जाता है।

3. बहु विकल्पी परीक्षण–इसमें दस से अधिक विकल्प दिए होते हैं जिसमें एक सही होता है।

1. बुद्धि परीक्षण का आविष्कार किसने किया ?

(क) टरमन, (ख) स्पीयरमैन

(ग) बीने (ग) फ्रायड

2. ताजमहल किसने बनवाया ?

(क) नूरजहाँ (ख) जहाँगीर

(ग) शेरशाह (घ) शाहजहाँ

इसके कई फायदे हैं जैसे–प्राप्तांक लेखन अप्रशिक्षित व्यक्तियों के द्वारा भी किया जा सकता है, कम समय लगता है, इसमें अटकलबाजी की गुंजाइश नहीं होती। इस प्रविधि के कुछ अवगुण भी हैं जैसे–प्रश्नों को तैयार करना कठिन कार्य है, अधिक समय तथा श्रम लगता है इसमें प्रश्नों को एक सा समझने की दुविधा भी होती है।

4. मिलान परीक्षक–इस परीक्षण के प्रत्येक एकांश में दो कॉलम होते हैं। एक में समस्या तथा दूसरे में उसके उत्तर या समाधान होते हैं, छात्रों से अपेक्षा की जाती है कि उपयुक्त विकल्प का मिलान करें जैसे–

क	ख
जापान	तेहरान
ईरान	वाशिंगटन
अमेरिका	टोकियो, इत्यादि।

इसमें कुछ फायदे इस प्रकार हैं–छात्रों में साहचर्य क्षमता बढ़ती है। अटकलबाजी नियंत्रित रही है। परन्तु इसमें कुछ अवगुण भी हैं जो अंतिम प्रश्न होता है उसका मिलान व छंटनी के आधार पर करता है।

5. पूर्ति परीक्षण–इस परीक्षण में प्रत्येक एकांश में एक रिक्त स्थान छोड़ दिया जाता है जिसे अपने ज्ञान के आधार पर भरना रहता है जैसे–

1. सोनिया गाँधी.....की पत्नी हैं।

2. जवाहर लाल नेहरू देश के .....थे।

इसमें अटकलबाजी का काम नहीं होता। सही उत्तर आने पर ही लिखा जा सकता है क्योंकि विकल्प नहीं दिया रहता है। इस परीक्षण का अधार प्रत्याह्वान है।

इसमें सबसे बड़ी कमी है प्राप्तांक लेखन की जो उतना वस्तुनिष्ठ नहीं समझा जाता है। साथ ही छात्रों की संगठनात्मक क्षमता का पता नहीं चलता है। एनासटेस (1990) ने इस प्रकार के परीक्षण को एक वस्तुनिष्ठ परीक्षण रखने में आपत्ति दिखाई है।

6. पुनर्व्यवस्थापन परीक्षण–इस परीक्षण में वाक्यों के विभिन्न शब्दों में स्थान परिवर्तन (अव्यवस्थित) कर दिया जाता है, छात्रों को उसे सही क्रम में लिखकर सार्थक बनाने को कहा जाता है। जैसे–

1. कुत्ता जानवर है एक प्रकार का,

2. केन्द्रित शिक्षा की बात है आज।

कभी-कभी इस परीक्षण को और भी जटिल बनाने के लिए इसमें यह कथन जोड़ दिया जाता है कि यह सत्य है या असत्य।

10.6.2 मानकृत वस्तुनिष्ठ परीक्षण

इस प्रकार की वस्तुनिष्ठ परीक्षा ज्यादा विश्वासनीय है क्योंकि इसका निर्माण विशेषज्ञों द्वारा होता है तथा प्रारम्भिक जाँचके बाद इसे किसी के द्वारा प्रयोग में लाया जा सकता है। एक बार जब परीक्षण का निर्माण हो जाता है तो इस प्रकार के परीक्षण के निर्माण की जरूरत नहीं पड़ती। इसका प्राप्तांक लेखन भी आसानी से किया जा सकता है तथा शैक्षणिक उपलब्धि भी आसानी से ज्ञात की जा सकती है।

$$\text{शिक्षा लब्धि} = \frac{\text{शिक्षा आयु}}{\text{वा० आयु०}} \times 100$$

इसके अलावा इस परीक्षण के द्वारा किसी समूह की उपलब्धि भी आसानी से ज्ञात की जा सकती है क्योंकि यह नार्म के आधार पर निकलता है, जिसमें किसी विद्यार्थी की उपलब्धि एक विशेष विषय में मानकृत समूह अनुपात में निकाला जाता है। इससे यह पता चलता है कि विद्यार्थी की उपलब्धि अपनी आयु के विद्यार्थी से कम है या अधिक।

मानकृत परीक्षणों के आधार पर उपलब्धि भी निकाली जाती है। इससे यह भी पता चलता है कि मानसिक योग्यता तथा शैक्षणिक उपलब्धि में क्या सम्बन्ध है, क्या बुद्धिमान बच्चे की योग्यता के अनुपात में सभी विषय में निपुण है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर के लिए उपलब्धि की आवश्यकता होती है।

$$\text{उ० ल०} = \frac{\text{शि० आयु}}{\text{मा० आयु}} \times 100$$

10.6.3 वस्तुनिष्ठ परीक्षा के गुण

इस परीक्षा के निम्नलिखित गुण हैं :

1. समय और परिश्रम की बचत—मौखिक या निबन्धात्मक परीक्षा की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ परीक्षा के द्वारा विद्यार्थियों के ज्ञानोपार्जन के मूल्यांकन से समय तथा श्रम की काफी बचत होती है। इस परीक्षा में परीक्षार्थियों को अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि "हाँ" या "नहीं", "शुद्ध" या "अशुद्ध" अथवा रिक्त स्थानों की पूर्ति के द्वारा वे प्रश्नों के उत्तर बड़ी आसानी से दे सकते हैं।

2. व्यापक क्षेत्र—यह परीक्षा प्रणाली इतनी व्यापक है कि इसमें सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का समावेश हो जाता है। प्रश्नों की संख्या इतनी अधिक होती है कि पाठ्यक्रम के सभी पहलुओं को आसानी से शामिल कर लिया जाता है। इस प्रकार विद्यार्थियों के ज्ञानोपार्जन का व्यापक एवं समय रूप से मापन हो पाता है।

3. विवेक पर बल—वस्तुनिष्ठ परीक्षा रट कर याद करने की अपेक्षा, समझ कर याद करने की प्रेरणा देती है। इसके प्रश्न इस प्रकार के होते हैं कि कोई विद्यार्थी बिना विवेक और सूझ के केवल रट कर इनके उत्तर नहीं दे सकता। फलतः इससे विद्यार्थियों को रटने की आदत छोड़ने तथा समझ कर याद करने का प्रोत्साहन मिलता है।

4. मूल्यांकन का समान मापदण्ड—इस परीक्षा का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें प्रश्नोत्तरों का मूल्यांकन वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। प्रश्नों के उत्तर निश्चित रहते हैं। अतः सभी परीक्षक समान रूप से

उत्तरों की जाँच कर पाते हैं। एक समय में एक परीक्षक जिस उत्तर के लिए जितना अंक देता है दूसरे समय में भी वह उतना ही अंक देता है।

5. पूर्वधारणा तथा पक्षपात का अभाव–वस्तुनिष्ठ परीक्षा में प्रश्नोत्तरों के मूल्यांकन पर परीक्षक की पूर्वधारणा या पक्षपात का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है। कारण यह है कि इसमें विद्यार्थियों को अधिक नहीं लिखना पड़ता है। इसलिए उनकी भाषा शैली, लिखावट, तथ्यों के संगठन इत्यादि से परीक्षकों को प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

6. स्वास्थ्य के लिए अहानिकारक–परीक्षार्थियों एवं परीक्षकों के मानसिक या शारीरिक स्वास्थ्य पर इस परीक्षा का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। परीक्षार्थी तीस या पैंतालिस मिनट में ही सौ प्रश्नों का समाधान कर लेते हैं। इससे उसका मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित नहीं होता।

7. विसंगति का प्रभाव–वस्तुनिष्ठ परीक्षा का एक गुण यह भी है कि विद्यार्थियों द्वारा असम्बद्ध या अनावश्यक बातों को लिखे जाने की सम्भावना भी नहीं रहती है। प्रश्न इस प्रकार के होते हैं कि विद्यार्थियों को ''हाँ'' या ''नहीं'' में उत्तर देना पड़ता है। इसी तरह कुछ प्रश्नों में रिक्त स्थान छोड़ दिए जाते हैं जिन्हें दिए गये शब्दों में से चुनकर भरना पड़ता है। ऐसी अवस्था में इस बात की सम्भावना नहीं होती है कि विद्यार्थियों को असंगत या अनावश्यक बातों के लिए धोखे से भी एक अंक प्राप्त हो जाए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुनिष्ठ परीक्षा के उपर्युक्त अनेक गुण हैं जिनके कारण इसका उपयोग व्यापक हो चला है।

10.6.4 वस्तुनिष्ठ परीक्षा के दोष या सीमाएँ

वस्तुनिष्ठ परीक्षा के विभिन्न गुणों का वर्णन किया जा चुका है। इससे यह समझना गलत होगा कि यह दोषरहित है। वास्तव में इस परीक्षा के निम्नांकित अवगुण हैं–

1. निर्माण सम्बन्धी कठिनाई–वस्तुनिष्ठ परीक्षा निर्मित करना टेढ़ी खीर है। प्रश्न कुछ इस प्रकार के बनाए जाते हैं कि छोटे होने पर भी सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को अपने में समेट सके। साथ ही उनसे विद्यार्थियों की न केवल स्मरण शक्ति की जाँच हो सके बल्कि उनके विवेक का भी मापन हो सके। प्रत्येक शिक्षक या अधिकारी ऐसे प्रश्नों का निर्माण नहीं कर सकते हैं। इसके लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है, किन्तु ऐसे विशेषज्ञ बड़ी कठिनाई से मिलते हैं।

2. स्मृति निर्माण–इस परीक्षण के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि इसके द्वारा मात्र स्मरण शक्ति का ही मापन हो पाता है। इससे विद्यार्थियों के विवेक तथा ज्ञान की गहराई की परीक्षा नहीं हो पाती है। निबन्धात्मक परीक्षा की तरह इस परीक्षा में भी विद्यार्थी अपने पाठ्यक्रम को रटकर अच्छा अंक प्राप्त कर सकता है।

3. तात्विक परीक्षण–वस्तुनिष्ठ परीक्षा वस्तुतः एक तात्विक परीक्षण है। इससे केवल इस बात की जाँच होती है कि अमुक विद्यार्थी ने अपने पाठ्यक्रम के तथ्यों को किस हद तक याद किया है। इससे परीक्षक यह नहीं जान पाता है कि अमुक विद्यार्थी की रचनात्मक योग्यता कितनी है। अतः कोई विद्यार्थी बिना रचनात्मक योग्यता के भी पाठ्यक्रम के अधिकाधिक तथ्यों को रटकर अच्छा अंक प्राप्त कर सकता है।

4. अनुमान द्वारा हल करना–वस्तुनिष्ठ परीक्षा में आजकल लगातार या अनुमान के आधार पर प्रश्नों को हल करने की सम्भावना अधिक होती है। प्रश्नों का उत्तर लिखते समय यदि विद्यार्थी अन्दाज से ''हाँ'' या ''नहीं'' लिखता चला जाए अथवा शुद्ध या अशुद्ध का चिन्ह लगाता चला जाए अथवा दिए गए शब्दों में से अनुमान से ही शब्दों को चुनकर खाली जगहों में भरता जाए तो भी वह कुछ अंक प्राप्त कर सकता है। अतः यह कहना बड़ा ही कठिन है कि किसी विद्यार्थी का प्राप्तांक किस सीमा तक उसके ज्ञानोपार्जन का परिणाम है और किस सीमा तक उसी अटकलबाजी की उपज है।

5. लेखन-क्षमता की उपेक्षा—वस्तुनिष्ठ परीक्षा के उपयोग से विद्यार्थियों की लेखन क्षमता को बढ़ाने का प्रोत्साहन नहीं मिलता है। जीवन में सफलता प्राप्ति के लिए ज्ञान के साथ-साथ लेखन क्षमता की आवश्यकता है। इस क्षमता के विकास में अभ्यास का महत्त्वपूर्ण हाथ है, लेकिन इस परीक्षा प्रणाली में विद्यार्थियों को लिखने का अभ्यास नहीं हो पाता है जिससे लेखन क्षमता उपेक्षित होती रहती है।

स्पष्ट है कि वस्तुनिष्ठ परीक्षा की अपनी सीमाएँ हैं।

10.7 निबन्धात्मक परीक्षा तथा वस्तुनिष्ठ परीक्षा का तुलनात्मक अध्ययन

निबन्धात्मक तथा वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं का विस्तृत वर्णन हम कर चुके हैं। इससे स्पष्ट हो चुका है कि इनके अपने-अपने गुण तथा अवगुण हैं। अतएव, इनके पारस्परिक महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए इनका तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

1. निबन्धात्मक परीक्षा की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ परीक्षा का क्षेत्र अधिक व्यापक है। निबन्धात्मक परीक्षा में प्रश्नों की संख्या कम होने के कारण सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को समेटना सम्भव नहीं हो पाता है। दूसरी ओर, वस्तुनिष्ठ परीक्षा में प्रश्नों की संख्या पर्याप्त होने कारण सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को शामिल करना बहुत आसान हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि परम्परागत परीक्षा से नवीन परीक्षा का क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है।

2. निबन्धात्मक परीक्षा में असंगत एवं अनावश्यक तत्वों के शामिल हो जाने की सम्भावना अधिक होती है। कुछ चतुर विद्यार्थी किसी प्रश्न का उत्तर नहीं जानने पर भी अनावश्यक एवं असंगत तत्वों को अपनी आकर्षक भाषा में इस प्रकार लपेट कर लिख देते हैं कि परीक्षक उससे प्रभावित होकर जाने या अनजाने कुछ अंक देते हैं। दूसरी ओर, वस्तुनिष्ठ परीक्षा में इस बात की तनिक भी सम्भावना नहीं रहती है।

3. निबन्धात्मक परीक्षा का निर्माण वस्तुनिष्ठ परीक्षा की अपेक्षा बहुत ही सरल होता है। इसमें प्रश्नों का निर्माण शिक्षक या अधिकारी आसानी से कर लेते हैं लेकिन वस्तुनिष्ठ परीक्ष के प्रश्नों को निर्मित करना बड़ा कठिन है। इनका निर्माण सभी शिक्षक या अधिकारी नहीं कर सकते। इसका निर्माण केवल विशेषज्ञ द्वारा सम्भव हो सकता है।

4. निबन्धात्मक परीक्षा में वस्तुनिष्ठ परीक्षा की अपेक्षा रटने पर अधिक जोर दिया जाता है। इससे विद्यार्थियों को तोते की तरह रट कर याद करने का प्रोत्साहन मिलता है। वे अपने पाठ या उसके अंशों को रट कर परीक्षा में ठीक उसी तरह लिख कर अच्छा अंक प्राप्त कर लेते हैं किन्तु इससे उनकी वास्तविक योग्यता का मापन नहीं हो पाता है। इसके विपरीत वस्तुनिष्ठ परीक्षा में रटने पर अधिक जोर नहीं दिया गया है।

5. निबन्धात्मक परीक्षा में लेखन शक्ति का अच्छा अभ्यास हो जाता है। परीक्षा में सभी प्रश्नों के उत्तर लिख सकें, इसके लिए विद्यार्थी पहले से ही लिखने का अभ्यास करते रहते हैं। इस प्रकार उनकी लेखन-शक्ति बढ़ती रहती है। इसके विपरीत वस्तुनिष्ठ परीक्षा से लिखने का अभ्यास नहीं हो पाता।

6. निबन्धात्मक परीक्षा से विद्यार्थियों की मनोवृत्ति, अभिरुचि एवं व्यक्तित्व संगठन का मापन भी एक बड़ी सीमा तक हो जाता है। विशेष रूप से विवेचनात्मक प्रश्नों के उत्तर लिखते समय विद्यार्थियों को मनोवृत्ति, जीवन-शैली तथा व्यक्तित्व के अन्य शीलगुणों की अभिव्यक्ति हो जाती है। लेकिन, वस्तुनिष्ठ परीक्षा से विद्यार्थियों की मनोवृत्ति, अभिरुचि या व्यक्तित्व के शीलगुणों का ज्ञान भी नहीं हो पाता है।

7. निबन्धात्मक परीक्षा की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ परीक्षा अधिक तात्विक है। वस्तुनिष्ठ परीक्षा में केवल इस बात पर जोर दिया जाता है कि अमुक विद्यार्थी ने कितने तत्वों को याद किया है। उसकी विवेचनात्मक एवं रचनात्मक क्षमताओं की इस प्रकार उपेक्षा होती है।

8. निबन्धात्मक परीक्षा की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ परीक्षा के मूल्यांकन का आधार अधिक वैज्ञानिक है। निबन्धात्मक परीक्षा में प्रश्नोत्तरों के मूल्यांकन का कोई समान मापदण्ड नहीं है। प्रत्येक परीक्षक का अपना व्यक्तिगत मापदण्ड होता है। फलतः एक ही उत्तर पर कोई कम अंक देता है और कोई अधिक अंक देता है। दूसरी ओर, वस्तुनिष्ठ परीक्षा में मूल्यांकन का आधार सबके लिए समान होता है।

9. निबन्धात्मक परीक्षा की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ परीक्षा में पूर्वधारणा तथा पक्षपात का हाथ बहुत कम होता है। निबन्धात्मक परीक्षा में इस बात की सम्भावना है कि परीक्षक प्रश्नोत्तर की भाषा, शैली, लिखावट, तथ्यों के संगठन से प्रभावित होकर कम या अधिक अंक दे। लेकिन, वस्तुनिष्ठ परीक्षा में इस बात की तनिक भी सम्भावना नहीं है।

10. निबन्धात्मक परीक्षा एक प्रत्यावाहन परीक्षा है जबकि वस्तुनिष्ठ परीक्षा प्रधानतः एक पहचान परीक्षण है। निबन्धात्मक परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर मौलिक विषय की अनुपस्थिति में लिखे जाते हैं। लेकिन वस्तुनिष्ठ परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर दिए रहते हैं जिनमें से उत्तरों को पहचान कर प्रश्नों का समाधान करना पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचना से निबन्धात्मक परीक्षा तथा वस्तुनिष्ठ परीक्षा एक-दूसरे के विरोधी लगते हैं। लेकिन, गम्भीरता से विचार करने पर पता चलता है कि वे एक दूसरे के पूरक हैं। विद्यार्थियों की योग्यता या ज्ञानोपार्जन के समुचित एवं समग्र मापन किसी एक परीक्षण से सम्भव नहीं है। इन दोनों परीक्षणों के आधार पर विभिन्न योग्यताओं में विद्यार्थियों के प्राप्तांकों के बीच उच्च सहसम्बन्ध नहीं देखा जाता है। 1951 ई० में मैक केची ने अपने प्रयोग में पाया कि जो विद्यार्थी वस्तुनिष्ठ परीक्षा में प्रथम श्रेणी में घोषित किए गए, उन्हें निबन्धात्मक परीक्षा में औसत या औसत से भी निम्न घोषित किया गया। टैरी के अध्ययन से भी इस मत का समर्थन होता है। अतः विद्यार्थियों की योग्यताओं की समुचित परीक्षा के लिए इन दोनों परीक्षा प्रणालियों का सम्मिलित उपयोग आवश्यक है।

10.8 सारांश

1. परीक्षा एक बहुत ही व्यापक शब्द है लेकिन संक्षिप्त तौर पर हम कह सकते हैं कि यह एक मापन प्रणाली है जिसके द्वारा ज्ञानोपार्जन का मापन किया जाता है। उसी के माध्यम से विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धियों का मापन संभव है।

2. परीक्षा का काफी महत्त्व है। यह अधिकारियों के लिए, आश्रयदाताओं के लिए निरीक्षक के लिए, शिक्षक के लिए एवं विद्यार्थियों के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त यह शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन के लिए भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

3. एक अच्छी परीक्षा की कई विशेषताएँ होती हैं, एक प्रामाणिक परीक्षा में यथार्थता, विश्वसनीयता, वस्तुनिष्ठता, समग्रता, व्यवहारिता एवं मानक जैसी विशेषताएँ देखी जाती हैं।

4. परीक्षा के कई प्रकार हैं। जैसे--मौखिक परीक्षा, लिखित परीक्षा एवं क्रियात्मक परीक्षा। मौखिक परीक्षा में विद्यार्थियों से मौखिक प्रश्न किये जाते हैं और उनके उत्तर के आलोक में उनके ज्ञानार्जन का मूल्यांकन किया जाता है। यह काफी सरल विधि है लेकिन काफी दोषपूर्ण विधि है, क्योंकि यहाँ विद्यार्थियों का मूल्यांकन ठीक तरह से नहीं हो पाता है।

5. लिखित परीक्षा वैसी प्रणाली है जहाँ विद्यार्थियों को निश्चित समय सीमा के अन्दर प्रश्नों के उत्तर लिखित रूप में होते हैं। उसके मुख्यतः दो प्रकार हैं, जिन्हें निबंधात्मक परीक्षा एवं वस्तुनिष्ठ परीक्षा के नाम से जाना जाता है। निबन्धात्मक परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर वर्णनात्मक एवं विवेचनात्मक रूप में देना पड़ता है।

उसके कई लाभ हैं जैसे–यह एक सुलभ एवं व्यापक विधि है जिसके माध्यम से विवेक, योग्यता एवं रचनात्मक चिन्तन में वृद्धि संभव है। उस प्रकार की परीक्षा से व्यक्ति की भाषा एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन सहज रूप में संभव है। इस विधि का एक और महत्त्वपूर्ण दोष अवैज्ञानिक आधार है जिसका मुख्य कारण परीक्षक का व्यक्तिगत दृष्टिकोण, मनोदशा, पूर्वधारणा एवं पक्षपात को माना जाता है। उपर्युक्त अवगुणों को दूर करने के लिए निबन्धात्मक परीक्षा में सुधार के कई उपाय बताए गए हैं जैसे प्रश्न रचना, मूल्यांकन, परीक्षक, अध्यापन इत्यादि में सुधार के उपाय बताए गए हैं। इसके अतिरिक्त मूल्यांकन के लिए पर्याप्त समय, अन्य परीक्षणों का व्यवहार, द्विपक्षीय, बाजारू पुस्तकों पर रोक, योग्य परीक्षकों का चयन एवं केन्द्रित मूल्यांकन को भी परीक्षा में सुधार के उपाय के रूप में बताया गया है।

6. वस्तुनिष्ठ परीक्षा में छोटे-छोटे प्रश्नों का उत्तर कम समय में देना पड़ता है। उसके कई प्रकार हैं। जैसे–सत्य-असत्य परीक्षण, रिक्त स्थान पूर्ति परीक्षण, बहुविकल्पी परीक्षण, मिलान परीक्षण, पुर्नव्यवस्थापन परीक्षण इत्यादि। वस्तुनिष्ठ परीक्षा के कई लाभ हैं। जैसे उसमें समय एवं श्रम की काफी बचत होती है, उसका क्षेत्र काफी व्यापक है, यहाँ विवेक पर बल दिया जाता है, यह पूर्वधारणा तथा पक्षपात से मुक्त होता है। इसके बावजूद इसके कई दोष हैं। जैसे–इसके निर्माण में कठिनाई होती है, उससे मात्र स्मरण शक्ति का मापन होता है, यहाँ अनुमान से हल किया जाता है जहाँ परीक्षणों के लेखन क्षमता की उपेक्षा की जाती है।

7. निबन्धात्मक परीक्षा एवं वस्तुनिष्ठ परीक्षा के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि निबन्धात्मक परीक्षा की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ परीक्षा का क्षेत्र व्यापक है। निबन्धात्मक परीक्षा में अपेक्षाकृत अधिक असंगत एवं अनावश्यक तत्व होते हैं, निबन्धात्मक परीक्षा का निर्माण अपेक्षाकृत काफी सरल है, निबन्धात्मक परीक्षा में रटने पर अधिक जोर दिया जाता है जबकि वस्तुनिष्ठ परीक्षा में समझने पर अधिक जोर दिया जाता है। निबन्धात्मक परीक्षा में लेखन शक्ति का अच्छा अभ्यास होता है, निबन्धात्मक परीक्षा से विद्यार्थियों की मनोवृत्ति, अभिरुचि एवं व्यक्तित्व संगठन का मापन अधिक संभव है, निबन्धात्मक परीक्षा की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ परीक्षा का आधार अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि यहाँ पूर्वधारणा तथा पक्षपात का हाथ बहुत कम होता है। निबन्धात्मक परीक्षा एक प्रत्यावाहन परीक्षण है जबकि वस्तुनिष्ठ परीक्षा पहचान परीक्षण है। इस प्रकार दोनों परीक्षण के अपने-अपने गुण एवं दोष हैं।

10.9 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

जनमत, निदान, शैक्षणिक, विविध, मापन प्रणाली, विश्लेषण, स्थानान्तरण, आश्रयदाता, निरीक्षक, पाठ्यक्रमिक, मूल्यांकन, उद्दीपन, व्यावसायिक चयन, अभिरुचि परीक्षण, यथार्थता, विश्वसनीयता, मानक, समग्रता, विवेचनात्मक, रचनात्मक, पक्षपात, प्रोत्साहन, परम्परागत, पूर्वधारणा, मनोदशा, द्विपरीक्षक, केन्द्रित, मूल्यांकन, पूर्वधारणा, विसंगति, स्मृति निर्माण, तात्विक, प्रत्यावाहन अविश्वसनीय।

10.10 अभ्यास के प्रश्न

10.10.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. परीक्षा से आप क्या समझते हैं ?
उत्तर–देखें 10.1

2. शिक्षा में परीक्षा का क्या महत्त्व है ?
उत्तर–देखें 10.2

3. मौखिक परीक्षा से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर–देखें 10.4.1

4. लिखित परीक्षा का क्या महत्त्व है ?

उत्तर–देखें 10.4.2

5. निबन्धात्मक परीक्षा के गुणों को लिखें।

उत्तर–देखें 10.4.3.1

10.10.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ परीक्षा से आप क्या समझते हैं ? इसके गुण एवं दोषों का वर्णन करें ।

   उत्तर–देखें 10.6.3 तथा 10.6.4

2. निबन्धात्मक परीक्षा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसके गुण एवं दोषों का वर्णन करें।

   उत्तर–देखें 10.4.3, 10.4.3.1 तथा 10.4.3.2

3. मौखिक परीक्षा तथा लिखित परीक्षा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए ।

   उत्तर–देखें 10.4.1 तथा 10.4.2

10.11 प्रस्तावित पाठ

1. सिंह ए० के० : **शिक्षा मनोविज्ञान**
2. चौहान एस० एस० : **एडवांसड एजुकेशनल साइकोलॉजी**
3. स्कीनर, सी० ई० : **एलेनसियलस ऑफ एजुकेशनल साइकोलॉजी**
4. सुलेमान एवं सिन्हा : **आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान**

◆◆◆

विशिष्ट या असाधारण बालकों की शिक्षा एवं उनका अभियोजन
Education and Adjustment of Special Type of Children)

पाठ संरचना

11.0 उद्देश्य

11.1 विशिष्ट या असाधारण बालक का अर्थ

11.2 शारीरिक विकलांग बालक

- 11.2.1 पूर्ण अंधे बालकों की शिक्षा तथा अभियोजन
- 11.2.2 आंशिक अंधे बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन
- 11.2.3 बहरे बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन
- 11.2.4 पूर्ण बहरे बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन

11.3 मंद बुद्धि के बालक का अर्थ

- 11.3.1 मंद बुद्धि के बालकों के लक्षण या विशेषताएँ
- 11.3.2 मंद बुद्धि के बालक के प्रकार
- 11.3.3 मंद बुद्धि के बालक की शिक्षा एवं अभियोजन

11.4 पिछड़े बालक का अर्थ

- 11.4.1 पिछड़े बालक की विशेषताएँ
- 11.4.2 बालक के पिछड़ेपन के कारण
- 11.4.3 पिछड़े बालक की समस्या
- 11.4.4 पिछड़े बालक की शिक्षा एवं अभियोजन

11.5 प्रतिभाशाली बालक का अर्थ

- 11.5.1 प्रतिभाशाली बालक की विशेषताएँ
- 11.5.2 प्रतिभाशाली बालक की शिक्षा एवं उनका अभियोजन

11.6 सारांश

11.7 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

11.8 अभ्यास के प्रश्न

- 11.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 11.8.2 दीर्घ उत्तरी प्रश्न

11.9 प्रस्तावित पाठ

11.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का मुख्य उद्देश्य पाठक को विशिष्ट या असाधारण बालक अर्थात् शारीरिक विकलांग बालक, मंद बुद्धि के बालक, पिछड़े बालक, प्रतिभाशाली बालक आदि के बारे में विस्तृत जानकारी देना है। यहाँ पाठ को यह समझाने का प्रयास किया जाएगा कि विशिष्ट शरीरिक विकलांग, मंद बुद्धि, पिछड़े तथा प्रतिभाशाली बालक का क्या अर्थ है, इनलोगों की शिक्षा किस प्रकार से हो सकती है, इन बालकों की समस्या तथा कारण क्या है और उनका समाज में अभियोजन किस प्रकार से हो सकता है, इत्यादि। हमें विश्वास है कि पाठ को ध्यानपूर्वक पढ़ने के बाद पाठक उससे संबंधित उत्तर देने में सक्षम होंगे। इसकी जाँच के लिए लघु उत्तरीय प्रश्न तथा दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों को भी इस पाठ में शामिल किया जायेगा।

11.1 विशिष्ट या असाधारण बालक का अर्थ

विशिष्ट या असाधारण बालकों का तात्पर्य ऐसे बालकों से है जो शारीरिक या मानसिक शीलगुणों में सामान्य बालकों से भिन्न होते हैं। कभी-कभी यह भिन्नता दोनों प्रकार के शीलगुणों में पाई जाती है। क्रो तथा क्रो ने विशिष्ट बालकों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "अनोखी या असाधारण शब्द का प्रयोग उस शीलगुण या शीलगुण वाले व्यक्त के लिए किया जाता है, जो सामान्य व्यक्ति के शीलगुण से इस सीमा तक विचलित होता है कि उसके साथियों को उसकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है और इसमें उसके व्यवहार तथा कार्य प्रभावित होते हैं।

इस परिभाषा में विशिष्ट बालकों के सम्बन्ध में कई बातों का पता चलता है। (क) विशिष्ट प्रकार के बच्चे सामान्य बच्चों से मानसिक या शारीरिक या दोनों शीलगुणों में विचलित होते हैं। (ख) यह विचलन इस सीमा तक होता है। (ग) इसके परिणामस्वरूप ऐसे बालक के व्यवहार तथा क्रियायें प्रभावित होते हैं।

स्पष्ट है कि अन्धे, बहरे, गूँगे आदि बालक शरीरिक शीलगुणों में सामान्य बालकों से विचलित होने के कारण विशिष्ट बालकों की श्रेणी में आते हैं। इसी तरह प्रतिभाशाली तथा मानसिक दुर्बल बच्चे मानसिक शीलगुणों में सामान्य बालकों से भिन्न होने के कारण विशिष्ट या असाधारण कहलाते हैं। इसी प्रकार अन्धे या बहरे प्रतिभाशाली या मानसिक दुर्बल बालक शारीरिक तथा मानसिक दोनों शीलगुणों में सामान्य बालकों से भिन्न होने के कारण असाधारण या विशिष्ट बालकों की श्रेणी में आते हैं। अतः संक्षेप में कह सकते हैं, कि "विशिष्ट या असाधारण बालकों का तात्पर्य ऐसे बालकों से है जो शारीरिक अथवा मानसिक शीलगुणों में सामान्य बालकों से एक मान्य सीमा तक विचलित होते हैं।"

11.2 शारीरिक विकलांग बालक (Physically handicapped Childreen)

विकलांग बालकों का तात्पर्य ऐसे बालकों से है जो मानसिक न्यूनता या शारीरिक विकृति से ग्रस्त हों। इस तरह विकलांग के दो प्रकार होते हैं–जो बालक ज्ञानात्मक, क्रियात्मक या अन्य शारीरिक दोषों से पीड़ित होते हैं, उन्हें हम शारीरिक विकलांग कहते हैं। क्रो तथा क्रो ने भी इस विचार का समर्थन किया है।

विकलांग बालकों की शिक्षा–विकलांग बालकों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था का वर्णन करने के पूर्व दो-तीन बातों को समझ लेना आवश्यक है। पहली बात यह कि शारीरिक दोषों को छोड़ कर विकलांग बालक सामान्य बालकों के समान होते हैं। गंभीर अवस्थाओं को छोड़ कर साधारणतः उनकी योग्यता सामान्य या औसत बालकों के समान होती है। दूसरी बात यह है कि ऐसे बालकों की शिक्षा का उद्देश्य मात्र उन्हें पढ़ना-लिखना सिखाना नहीं है बल्कि उन्हें इस योग्य बनाना है कि ये वैयक्तिक, सामाजिक एवं व्यावसायिक रूप से अभियोजित कर अपने जीवन को सफल बना सकें। और तीसरी बात यह कि शारीरिक विकलांग बालकों के कई प्रकार हैं जिनमें मुख्य हैं :

1. पूर्ण तथा आंशिक अन्धे

2. पूर्ण तथा आंशिक बहरे

3. भाषा-विकृत बालक आदि।

इन सभी प्रकार के बालकों की शिक्षा की विशिष्ट व्यवस्था ही उपयोगी हो सकती है। अतः विकलांग बालकों के शिक्षा कार्यक्रम की व्यवस्था करते समय उपर्युक्त तीन बातों का ध्यान में रखना होगा।

11.2.1 पूर्ण अन्धे बालक की शिक्षा तथा अभियोजन :

1. ब्रेल पद्धति—पूर्ण अन्धे बालकों को शिक्षित करने का सबसे उत्तम एवं उपयोगी उपाय यही है कि उन्हें ब्रेल पद्धति के द्वारा शिक्षा दी जाए। इसमें बालकों को ब्रेल पुस्तक, ब्रेल स्लेट या टाइपराईटर के द्वारा पढ़ना-लिखना सिखाया जाता है। ब्रेल अक्षरों को स्टाइल्स की मदद से लिखना पड़ता है। ब्रेल अक्षर एक विशेष प्रकार के धातु प्लेट पर बिन्दुओं के खास आकारों में लिखे होते हैं। इन आकारों में छः उठे हुए बिन्दु होते हैं जिनकी सहायता से वे विभिन्न अक्षरों को लिख पाते हैं। इस तरह से वे अपनी अंगुली की नोंक के द्वारा अंकित अक्षरों को पढ़ते हैं।

2. विद्युत पद्धति—आधुनिक शिक्षा विशेषज्ञों ने अन्धे बालकों की शिक्षा के लिए विद्युत पद्धति का आविष्कार किया है। इसमें एक विद्युत पेन्सिल होती है, जिसकी सहायता से बालक ब्रेल पुस्तक को पढ़ पाते हैं। पेन्सिल को नोकीली रेखाओं पर घुमाने से विशेष अक्षर की तरह की आवाज पैदा होती है। आवश्यक होने पर बालकों के कान में ईयर-फोन लगा दिया जाता है ताकि वे आवाज को ठीक-ठीक सुन और समझ सकें। इस तरह, इस पद्धति से अन्धे बालकों की शिक्षा को एक बड़ी हद तक सहज एवं सफल बनाया जा सकता है।

3. विशिष्ट पाठ्यक्रम—वालिन तथा काल्सटो ने अपने अध्ययनों के आधार पर अन्धे बालकों के लिए विशिष्ट पाठ्यक्रम की सिफारिश की है। ऐसे बालकों में संगीत की चातुरी अधिक होती है। अतः उन्हें संगीतज्ञ बनने का पूरा-पूरा अवसर मिलना चाहिए। इसकी व्यवस्था उनके पाठ्यक्रम में होनी चाहिए। इसी तरह, क्रियात्मक प्रशिक्षण, भाषा दोष को दूर करना, बोलने का प्रशिक्षण, उद्योग तथा ललितकला का समावेश भी पाठ्यक्रम में होना चाहिए। बाद में व्यावहारिक प्रशिक्षण देना भी आवश्यक है।

4. विशिष्ट आवासीय स्कूल—अन्धे बालकों की सफल शिक्षा के लिए शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने विशिष्ट आवासीय स्कूल की स्थापना पर जोर दिया है। इनके लिए एक अलग स्कूल की व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें इनके पढ़ने तथा रहने का प्रबन्ध हो। जब उन्हें शिक्षण की मौलिक रूप-लेखा का ज्ञान हो जाए तो उन्हें किसी पब्लिक स्कूल में स्थानान्तरित कर देना चाहिए ताकि वे आँख वाले बालकों के साथ अभियोजित होना सीख लें।

इस प्रकार, उपर्युक्त शिक्षा कार्यक्रम के द्वारा अन्धे बालकों को शिक्षित तथा अभियोजित बनाकर समाज एवं देश के बोझ को हल्का किया जा सकता है।

11.2.2 आंशिक अन्धे बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन

आंशिक अर्ध अन्धे बालकों की शिक्षा के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की जा सकती है :

1. संरक्षण कक्षा—जो बालक किसी प्रकार के दृष्टि-दोष से पीड़ित हों उनके लिए एक विशिष्ट कक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। कक्षा में रोशनी का पूर्ण तथा उचित प्रबन्ध आवश्यक है। कन्डिल रोशनी समूचे कमरे में हो तो अधिक अच्छा है। कमरे को आंतरिक तथा बाह्य चमक से सुरक्षित होना चाहिए। अतएव, कमरे में न चमकने वाला टेबुल, बेन्च, कुर्सी आदि का प्रबन्ध हो। इसी तरह, यॉक-बोर्ड का रंग भूरा-हरा होना चाहिए।

2. विशिष्ट अध्यापन सामग्री—शिक्षा विशेषज्ञों ने ऐसे बालकों की शिक्षा के लिए कुछ खास किस्म की अध्यापन-सामग्री की सलाह दी है। मोटे अक्षरों में स्पष्ट रूप से छपी पुस्तकों का प्रबन्ध होना चाहिए ताकि दृष्टि

शक्ति कमजोर होने पर भी बालक उन्हें आसानी से पढ़ सकें। अध्ययनों से पता चलता है कि 18 से 24 पोआएन्ट की छपाई अधिक उपयुक्त है। दूसरी बात यह कि उन्हें हल्का पीला रंग पर लिखने को कहा जाए और तीसरी बात यह कि उन्हें भारी लीड वाली पेन्सिल से लिखने के लिए कहा जाए।

3. दृष्टि सम्बन्धी सहायता—दृष्टि दोष से पीड़ित बालकों की शिक्षा की व्यवस्था सामान्य वर्ग में की जा सकती है। ऐसी हालत में उन्हें दृष्टि सम्बन्धी सहायता मिलनी चाहिए ताकि वे सामान्य बालकों के साथ चल सकें। इसके लिए आवश्यकतानुसार चश्मा आदि का प्रबन्ध किया जा सकता है।

4. सामान्य बालकों के साथ आवृतिकरण—संरक्षण कक्षा में पढ़ लेने के बाद ऐसे बालकों को सामान्य दृष्टि वाले बालकों के साथ रखा जाए तथा पढ़ाये गए विषयों को दुहराने के लिए कहा जाए। लेकिन यहाँ शिक्षक को बहुत सावधान रहना होगा ताकि वे आवश्यकता पड़ने पर उन्हें दृष्टि सम्बन्धी सहायता दे सकें। इस प्रकार वे लिखना पढ़ना सीखने के साथ-साथ सामान्य बालकों के साथ सामाजिक एवं संवेगात्मक अभियोजन कायम करना भी सीख सकेंगे।

अतः उपर्युक्त योजनाओं के आधार पर आंशिक या अन्धे बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन की समुचित व्यवस्था की जा सकती है।

11.2.3 बहरे बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन :

बहरापन के मुख्य दो प्रकार हैं—(क) पूर्ण बहरापन तथा (ख) आंशिक बहरापन। आंशिक बहरापन की मात्रा कम या अधिक हो सकती है। जिन बालकों में यह क्षति 70 प्रतिशत से अधिक होती है, उन्हें शैक्षिक बहरा कहा जाता है। अध्ययनों से ज्ञात होता है कि 35 से 40 प्रतिशत बहरापन वंश परम्परा के कारण होता है और शेष अन्य के बाद। प्रायः शैशवावस्था में जुकाम, इनफ्लूएन्जा, कुकुरखांसी, शीतला रोग, स्कारलेटज्वर आदि के कारण होता है। पूर्ण बहरे बालकों की अपेक्षा अर्ध यां आंशिक बहरे बालकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना आसान है।

11.2.4 पूर्ण बहरे बालक

बालिन तथा क्रॉल्सटों ने पूर्ण बहरे बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन के लिए निम्नलिखित उपायों का वर्णन किया है :

1. विद्युत पद्धति—आधुनिक वैज्ञानिकों के सक्रिय प्रयास से कुछ ऐसे विद्युत यंत्र बनाए गये हैं जिनकी मदद से बहरे बालकों की शिक्षा कुछ हद तक संभव हो सकी है। जैसे—श्रवण क्षति के प्रकार एवं मात्रा को मापने वाला यन्त्र, श्रवण केन्द्र को निश्चित करने वाला यन्त्र, सुनने में सहायता करने वाला यन्त्र, चिकित्सा द्वारा श्रवण क्षति को दूर करके बालकों को सुनने योग्य बनाना आदि। इन उपायों से बालकों को पहले यथासंभव सुनने के लायक बनाया जाता है और फिर उनकी योग्यता एवं अभिरुचि के अनुसार उनकी शिक्षा की व्यवस्था की जाती है।

2. ऐसे बालकों की शिक्षा की व्यवस्था एक अलग विशिष्ट स्कूल में होनी चाहिए। अलग स्कूल के प्रबन्ध से बालकों को कई तरह से लाभ पहुँचते हैं। बालकों में हीनता का भाव उत्पन्न नहीं होता है। विशिष्ट प्रकार के पाठ्यक्रम को लागू करने में आसानी होती है। शिक्षक बालकों पर वैयक्तिक रूप से ध्यान दे पाते हैं। शिक्षक का यह उत्तरदायित्व है कि वे बालकों से बातचीत करें तथा गीत उच्चारण करने पर उसे शुद्ध करने का प्रयास करें। वस्तुतः यह कार्य बहुत कठिन है। इसके लिए पहले शिक्षक को प्रशिक्षण लेना चाहिए।

3. भाषा-विशेषज्ञ तथा मनोवैज्ञानिकों की एक कमिटी बना ली जाए जो प्रदर्शन द्वारा बालकों को ठीक-ठीक उच्चारण करना सिखा सकें। होठ, जुबान तथा साँस पर जिस प्रकार नियंत्रण करके बोलना चाहिए,

यह कला बालकों को बतलाया जाना चाहिए। इसके लिए पुस्तकें भी उपलब्ध हैं। अत: शिक्षकों को पहले इन पुस्तकों का अध्ययन कर लेना चाहिए ताकि वे अपने विद्यार्थियों के साथ न्याय कर सकें।

4. भाषा-सुधार पद्धति का उपयोग यथासंभव होना चाहिए। इन में एक सरल पद्धति यह है कि सप्ताह में एक बार भाषा दोष से पीड़ित बालकों को एक शान्त लेकिन आनन्दप्रद कमरा में लाया जाता है। कमरा में छोटी-छोटी रोचक वस्तुएँ रहती हैं, जिनके सम्बन्ध में बालकों को कुछ बोलने के लिए कहा जाता है। कभी तो अकेले और कभी बालकों के साथ एक समूह में बोलना पड़ता है। इससे बालकों की भाषा एक बड़ी हद तक सुधर जाती है और उनकी शिक्षा सहज होने लगती है।

इस सम्बन्ध में बट्स तथा मेन्टसन के अध्ययन बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार ऐसे बालकों की समुचित शिक्षा एवं भाषा सुधार के लिए सुनो-बोलो विधि काफी उपयोगी है।

5. भाषा-दोष से पीड़ित बालकों को माता-पिता, शिक्षक तथा अधिकारियों से प्रोत्साहन, प्रशंसा आदि मिलते रहना चाहिए ताकि वे शिक्षा की ओर प्रेरित होते रहें। शिक्षकों को चाहिए कि वे ऐसे बालकों को अपने निकट बैठाएँ ताकि वे उनकी भाषा त्रुटियों को जान सकें तथा उनको सुधारने का कोई उचित प्रबन्ध कर सकें। दूसरी बात यह कि शुद्ध बोलने पर बालकों को प्रशंसा, प्रोत्साहन आदि के द्वारा अधिक से अधिक प्रेरित किया जाए। इससे यह भी होगा कि शिक्षकों में उनका विश्वास पैदा हो सकेगा और वे बिना संकोच के अपनी कठिनाइयों को शिक्षक के सामने रख सकेंगे।

इस तरह हमने देखा कि उपर्युक्त बातों पर अमल करके ऐसे बालकों की भाषा त्रुटियों को दूर करके उनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था की जा सकती है।

शारीरिक विकलांग बालकों के सम्बन्ध में निष्कर्ष : विकलांग बालक के अभियोजन में पूरी सफलता तभी मिल सकती है जबकि शिक्षक के अतिरिक्त बालकों के मता-पिता एवं समाज के अन्य सदस्य भी इसमें सहयोग दें। बालकों को हीनता के भाव से बचाना तथा उनमें यह विश्वास पैदा करना कि समाज में उनका वही स्थान है, जो स्थान सामान्य बालकों को प्राप्त है, शैक्षणिक दृष्टिकोण से काफी महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए माता-पिता तथा समाज के अन्य सदस्यों को चाहिए कि वे ऐसे बालकों की निन्दा न करें बल्कि यथासंभव उन्हें शिक्षा के प्रति उत्साहित एवं प्रेरित करते रहें तथा उनकी कठिनाइयों की ओर शिक्षकों एवं अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करते रहें।

11.3 मंद बुद्धि के बालक का अर्थ (Mentally Retarded Children)

मंद-बुद्धि के बालक का अर्थ–आम बोल-चाल की भाषा में मंद बुद्धि बालक उसे कहते हैं जिसकी बौद्धिक योग्यता औसत बालकों से कम होती है। ऐसे बालक के लिए कई प्रकार के पद व्यवहार किए जाते हैं, जैसे–मानसिक दुर्बल, मानसिक न्यून, निर्बल बुद्धि, मन्द बुद्धि इत्यादि। वेकफिल्ड ने ऐसे बालकों की परिभाषा देते हुए कहा है, "मानसिक दुर्बलता का तात्पर्य अपर्याप्त सामाजिक समायोजन, शिक्षण की न्यून क्षमता, परिपरक्वता की मंद गति आदि विशेषताओं के समूह से जिसका कारण न्यून बौद्धिक योग्यता है जो जन्मजात होती है अथवा आरंभ से ही वर्तमान रहती है।

इस परिभाषा में निम्नलिखित बातें मुख्य हैं–(क) मन्द-बुद्धि के बालकों में सामाजिक अभियोजन की क्षमता अपर्याप्त होती है। (ख) सीखने की क्षमता न्यून होती है। (ग) परिपक्वता की गति मन्द होती है। (घ) औसत बालकों की तुलना में बुद्धि की मात्रा कम होती है जो जन्म अथवा प्रारम्भिक अवस्था से ही पाई जाती है। (ङ) कभी कभी तो लक्षण अलग और कभी एक ही साथ देखे जाते हैं।

यद्यपि इस परिभाषा से मन्द-बुद्धि के बालकों का स्वरूप बहुत अंशों में स्पष्ट हो जाता है, फिर भी इससे यह ज्ञात नहीं होते है कि ऐसे बालकों की बौद्धिक योग्यता की सीमा आखिर कितनी है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इनकी बुद्धि 70 से 85 के बीच होती है। इस दृष्टिकोण से हॉलिंगवर्थ ने अपनी परिभाषा में कहा है, "मंद बुद्धि व्यक्ति वह है जिसकी बुद्धिलब्धि मूलतः 70 प्रतिशत अथवा इससे कम होती है और जो बुद्धि की दृष्टि से न्यूनतम दो प्रतिशत व्यक्तियों में होता है।"

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस श्रेणी के बालकों में मानसिक दुर्बल बालकों के साथ-साथ मन्द-बुद्धि के बच्चों की गणना भी की जाती है। मन्द बुद्धि के बच्चों का तात्पर्य ऐसे बच्चों से है, जिनकी बुद्धि लब्धि 70 से 85 के बीच होती है। गेट्स, जर्सिल्ड, मैक कोनिल तथा चालमैन (1964) के अनुसार 75 से 90 बुद्धि लब्धि वाले बच्चों को मन्द बुद्धि बालक कहते हैं।

11.3.1 मंदबुद्धि के बालकों के लक्षण या विशेषताएँ

मानसिक न्यून तथा मन्द बुद्धि के बालकों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. बौद्धिक क्षमता—मन्द बुद्धि के बालकों की एक प्रमुख विशेषता उनकी सीमित बुद्धि है। उनकी बौद्धिक योग्यता की उच्चतम सीमा 75 अथवा 70 बुद्धि लब्धि है। बुद्धि लब्धि के आधार पर उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। 50 से 75 बुद्धि लब्धि वाले बालक को मूर्ख, 26 से 49 बुद्धि लब्धि वाले बालकों को मूढ़ तथा 25 या इससे कम बुद्धि लब्धि वाले बालकों को जड़ कहते हैं। इसी तरह मन्द बुद्धि के बालक में 75 से 90 तक बुद्धि लब्धि पाई जाती है।

2. शारीरिक लक्षण—ऐसे बालकों का शरीर सामान्य या प्रतिभाशाली बालकों की अपेक्षा नाटा, हल्का तथा अल्प विकसित होता है। उनका सामान्य स्वास्थ्य कमजोर रहता है। उनके सिर, कान, आँख आदि अंगों में कई तरह की अनियमितताएँ पाई जाती हैं।

3. सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था—मन्द बुद्धि के बालकों का सम्बन्ध प्रायः निम्न वंशपरम्परा में रहता है। औसत लोगों की अपेक्षा उनके माता-पिता कम शिक्षित होते हैं तथा उनकी बौद्धिक क्षमता भी कम होती है। उनके परिवार की आय, रहन-सहन या खान-पान औसत परिवार से न्यून होता है।

4. सामाजिक एवं संवेगात्मक अवस्था—समाजीकरण की दृष्टि से ऐसे बालक सामान्य या प्रतिभाशाली बालकों से कम परिपक्व होते हैं। सामान्य या प्रतिभाशाली बच्चे उनके साथ खेलना या मिलना जुलना पसन्द नहीं करते। इसीलिए वे अपने से कम आयु के बच्चों के साथ खेलते नजर आते हैं। संवेगात्मक परिपक्वता की दृष्टि में भी वे पिछड़े होते हैं।

5. सीखना एवं शिक्षा—शिक्षा की दृष्टि से ये बालक बहुत पिछड़े होते हैं। 50 से 75 बुद्धि लब्धि वाले बालक आसान विषयों को सीख पाते हैं। 26 से 49 बुद्धि लब्धि वाले बालक सीखने में बिल्कुल असमर्थ होते हैं। समूहिक रूप से उनका शब्दकोष सीमित होता है तथा एकाग्रता की क्षमता बहुत ही कम होती है।

6. अन्य विशेषताएँ—उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त हिल महोदय ने मन्द बुद्धि के बालकों की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(1) देर से प्रतिक्रिया करना।
(2) वाचिक सीख की अपेक्षा क्रियात्मक सीख की क्षमता अधिक होना।
(3) किसी विषय की सत्यता को बिना तर्क-वितर्क के ही मान लेना।
(4) दूसरों के निर्देश पर चलना।
(5) अमूर्त चिन्तन का अभाव।

(6) वर्तमान समस्या के समाधान में अपने पूर्वअनुभवों से लाभ उठाने की क्षमता की कमी।

(7) आत्म मूल्यांकन, आत्म-विश्वास तथा आत्मबल की कमी।

(8) अभिरुचि का सीमित होना।

(9) संवेगों तथा प्रेरणाओं का सीमित होना।

11.3.2 मानसिक रूप से मंदबुद्धि के बालक के प्रकार

मानसिक दुर्बल बच्चे के निम्नलिखित प्रकार हैं :

1. साधारण मानसिक मंदता—इस श्रेणी में आनेवाले बालकों की बुद्धिलब्धि 52-67 के बीच होती है। ऐसे बालकों को कुछ शिक्षा दिया जाना संभव है और वयस्क होने पर इनका बौद्धिक स्तर 8 से 11 साल के सामान्य बालक के बौद्धिक स्तर के बराबर होता है। माता-पिता की देखरेख तथा विशिष्ट शिक्षा कार्यक्रम के आधार पर ऐसे बालकों के सामाजिक अभियोजन में इस हद तक सुधार लाया जा सकता है कि वे अपने रोजमर्रे के कामों को करने में आत्मनिर्भरता दिखा सकते हैं।

2. अल्पबल मानसिक मंदता—इस श्रेणी में आनेवाले बालक की बुद्धिलब्धि 36 से 51 तक होती है। ऐसे बालकों को प्रशिक्षण देकर उन्हें कुछ हद तक मामूली कार्य करने के लायक बनाया जा सकता है। अत: उन्हें प्रशिक्षणीय की शैक्षिक श्रेणी में रखा जाता है। ऐसे बालकों की सीखने की दर धीमी होती है। शारीरिक रूप से वे बेढंगा दीखते हैं तथा उनमें शारीरिक अनियमितता देखने को मिलती है। उनका क्रियात्मक समन्वय असंतुलित होता है।

3. गंभीर मानसिक मंदता—इस श्रेणी में आनेवाले बालक की बुद्धिलब्धि 20 से 25 के बीच होती है। ऐसे बालकों को सदा दूसरों पर निर्भर रहनेवाला अर्थात् आश्रित बालक कहा जाता है। मानसिक रूप से मन्द ऐसे बालकों का क्रियात्मक विकास, भाषा विकास गंभीर रूप से होता है तथा इनमें ज्ञानात्मक दोष एवं क्रियात्मक विकालांग सामान्य रूप से पाए जाते हैं। वे अपनी देखरेख एवं सामान्य क्रियाओं के लिए भी दूसरों पर आश्रित रहते हैं। वयस्क होने पर भी उन्हें खाना खिलाने एवं सुलाने की जरूरत होती है। कुछ अध्ययनों से पाया गया है कि ऐसे बालकों को यदि काफी जोर-शोर से प्रशिक्षित किया जाता है, तो वे अति साधारण कार्यों को करना बहुत दिनों के बाद सीख पाते हैं।

4. गहन मानसिक मंदता—इस श्रेणी में आनेवाले बालकों की बुद्धिलब्धि 20 से नीचे होती है। ऐसे बालकों का सम्पूर्ण जीवन तक देख-रेख चाहने वाला बालक की श्रेणी में रखा जाता है। ऐसे बालकों में गंभीर रूप से शारीरिक अनियमितता पाई जाती है तथा केन्द्रीय स्नायुमंडल के रोग होते हैं। ऐसे बालकों में बहरापन एवं मूकता भी अधिक देखने को मिलती है। ऐसे बालक शायद ही कुछ शब्दों को बोलना सीख पाते हैं। अत: उन्हें आजीवन देख-रेख की जरूरत पड़ती है। इस श्रेणी में आए बालक की पहचान शैशवास्था में ही आसानी से हो जाती है तथा वे प्राय: अल्पायु होते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि मानसिक मंदता के चार प्रकार हैं। इन प्रकारों में प्रथम दो प्रकार की श्रेणियों में आनेवाले बालकों में शिक्षा मनोवैज्ञानिकों की रुचि है, क्योंकि अंतिम दो प्रकार के बालक प्रशिक्षण एवं शिक्षा के योग्य होते ही नहीं है।

11.3.3 मंदबुद्धि के बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन

मानसिक दुर्बल या मन्द बुद्धि के बालकों की समुचित शिक्षा एवं उनके अभियोजन के लिए विभिन्न उपायों को बताने के पूर्व यह समझ लेने की बात है कि इस श्रेणी के सभी बालकों को शिक्षा देना संभव नहीं है। जिन बालकों की बुद्धि लब्धि 26 से कम है, उन्हें किसी भी तरह शिक्षित नहीं किया जा सकता है। इन्हें

जीवित रहने के लिए कदम-कदम पर देखभाल तथा संरक्षण की जरूरत होती है। जिन बालकों की बुद्धि-लब्धि 50 से कम हों उन्हें साधारण शिक्षा दी जा सकती है। लेकिन, पब्लिक स्कूल में बाजब्ता शिक्षा इनके लिए भी संभव नहीं है। केवल ऐसे बालक जिनकी बुद्धि-लब्धि 50 से ऊपर हो, शिक्षा के योग्य माने जाते हैं।

शिक्षा विशेषज्ञों एवं मनोवैज्ञानिकों ने मंद बुद्धि के बालकों की समुचित शिक्षा के लिए निम्नलिखित प्रयोजनों की सिफारिश की है–

1. उपर्युक्त पाठ्यक्रम–मन्द बुद्धि के बालकों के लिए उपर्युक्त पाठ्यक्रम का होना बहुत आवश्यक है। कारण यह है कि जो पाठ्यक्रम सामान्य बालकों के लिए बनाया जाता है, वह मन्द बुद्धि के बालकों के लिए काफी कठिन हो जाता है। अत: अपने पाठ्यक्रम को न समझ पाने के कारण वे शिक्षा के प्रति उदासीन हो जाते हैं। वर्ग में साथियों के सामने अपनी कमजोरी जाहिर होने पर उनमें लज्जा एवं हीनभाव पैदा होने लगता है, जिसके कारण वे वर्ग से अनुपस्थित रहने लगते हैं, घर पर झूठ बोलते हैं, तथा आवारागर्दी में समय बिताने लगते हैं।

2. विशिष्ट वर्ग–उपर्युक्त प्रयोजनों की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे बालकों के लिए अलग एक विशिष्ट वर्ग की सिफारिश की है। अमेरिका तथा रूस में इस प्रकार की व्यवस्था व्यवहार में आ चुकी है और इसके संतोषजनक परिणाम प्राप्त हो रहे हैं। इस व्यवस्था से बालकों को कई तरह से लाभ पहुँच सकते हैं। पहला, उनकी योग्यता के अनुसार पाठ्यक्रम बनाने एवं वर्ग में लागू करने में सुविधा होगी, क्योंकि वर्ग के सभी बालक समान बौद्धिक स्तर के होंगे। दूसरा, बालकों पर वैयक्तिक रूप से ध्यान देना आसान होगा। तीसरा, बालकों की योग्यता एवं अभिरुचि के अनुकूल विशेष अध्ययन विधि का उपयोग करना संभव हो सकेगा। चौथा, बालक हीनता की भावना से बच सकेंगे।

3. उपर्युक्त अध्यापन विधि–मन्द बुद्धि के बालकों की समुचित शिक्षा के लिए उचित अध्यापन विधि भी नितांत आवश्यक है। इस सम्बन्ध में किए गए अध्ययनों से ज्ञात होता है कि ऐसे बालक प्रयत्न तथा भूल द्वारा अधिक सीखते हैं। समझ कर सीखने की अपेक्षा रटकर सीखना अधिक पसन्द करते हैं। इसी तरह प्रदर्शन विधि के द्वारा वे सहज रूप से सीख पाते हैं। अत: शिक्षकों को चाहिए कि ऐसे बालकों को पढ़ाते या लिखाते समय इन सारी बातों का उपयोग करें।

4. पाठेतर क्रिया–मन्द बुद्धि के बालकों के शिक्षा कार्यक्रम में मनोरंजन की व्यवस्था भी जरूरी है। अत: किस्सा-कहानी, नाटक, तथा लययुक्त अन्य क्रियाओं का प्रबन्ध होना चाहिए। बालकों की अभिरुचि तथा मनोवृत्ति को भी ध्यान में रखना चाहिए। अनुकूल खेल-कूद का सुन्दर प्रबन्ध भी लाभप्रद सिद्ध होता है।

5. चरित्र-निर्माण–यों तो सभी स्तरों के बालकों के चरित्र का निर्माण आवश्यक है, लेकिन मानसिक दुर्बल बालकों के लिए खास तौर पर इसकी व्यवस्था उनके शिक्षा कार्यक्रम में होनी जरूरी है। वास्तव में ऐसे बालकों की शिक्षा का उद्देश्य उन्हें किसी उपर्युक्त व्यवसाय के योग्य बनाना है जिससे वे अपनी जीविका चला सकें। अत: उनमें ईमानदारी, उत्तरदायित्व की भावना, कर्त्तव्य पालन की भावना, आत्म-विश्वास, अपने मित्रों तथा अधिकारियों के साथ प्रभावपूर्ण व्यवहार आदि गुणों का होना आवश्यक है।

6. विशिष्ट आवासीय स्कूल–बेरी महोदय ने मन्द-बुद्धि के बालकों की समुचित शिक्षा के लिए विशिष्ट आवासीय स्कूल की सिफारिश की है। ई० एच० मार्टेन ने भी इस व्यवस्था का समर्थन किया है तथा बताया है कि इससे मन्द बुद्धि के बालक कई अर्थों में लाभान्वित हो सकेंगे। (1) अलग व्यवस्था होने से उनकी योग्यता के अनुकूल विशेष पाठ्यक्रम बनाने, योग्य शिक्षकों को नियुक्ति करने, उपर्युक्त अध्यापन विधि से शिक्षा देने तथा पाठ्यक्रम के अतिरिक्त अन्य अनुकूल क्रियाओं की व्यवस्था करने में काफी सुविधा होगी। (2) शिक्षकों के लिए यह संभव हो सकेगा कि विद्यार्थियों पर वैयक्तिक रूप से ध्यान दे सकें। (3) औसत

या प्रतिभाशाली बालकों से अलग रहने पर वे हीनभाव के शिकार नहीं हो सकेंगे। (4) समान बौद्धिक स्तर के होने के कारण बालकों में प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होगी जो शैक्षिक दृष्टि से काफी लाभप्रद है। इस तरह, शिक्षा के साथ-साथ बालकों के वैयक्तिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक अभियोजन की ओर ध्यान दिया जा सकेगा।

11.4 पिछड़े बालक का अर्थ (Backward Children)

पिछड़े बालक से तात्पर्य सामान्यत: वैसे बालक से होता है जो बुद्धि, शिक्षा आदि में अपने समकक्षियों से काफी पीछे रह जाते हैं। कुछ लोग बालकों के पिछड़ेपन को दो आधारों पर तौलते हैं–बुद्धि के आधार पर तथा शैक्षिक उपलब्धि के आधार पर। बुद्धि के आधार पर पिछड़ेपन को मानसिक मंदता कहा जाता है तथा शैक्षिक उपलब्धि के आधार पर पिछड़ेपन को शैक्षिक मंदता कहा जाता है।

वर्ट (1937) ने पिछड़े बालक को परिभाषित करते हुए कहा है, "पिछड़े बालक वह हैं जो अपने स्कूल जीवन के बीच (यानी लगभग साढ़े दस साल में) अपनी आयु के समकक्ष से नीचे की कक्षा का कार्य करने में असमर्थ हो।"

वर्ट ने पिछड़े बालक को मूलत: शैक्षिक लब्धि के रूप में परिभाषित किया है। उनका कहना है कि जिस बालक की शैक्षिक लब्धि 85 से कम होती है, उसे हम निश्चिंत होकर पिछड़े बालक के रूप में पहचान कर सकते हैं।

11.4.1 पिछड़े बालक की विशेषताएँ

इस तरह स्पष्ट है कि पिछड़े बालक की पहचान उसकी कुछ स्पष्ट विशेषताओं के आधार पर की जाती है, जो निम्नांकित हैं–

(क) पिछड़े बालक की मानसिक आयु अपने समकक्षियों से कम होती है।

(ख) पिछड़े बालक की शैक्षिक आयु की अपने समकक्षियों से कम होती है।

(ग) ऐसे बालकों की शैक्षिक उपलब्धि सामान्य या औसत से कम होती है।

11.4.2 बालकों के पिछड़ेपन के कारण

बालकों के पिछड़ेपन के कई कारणों को शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने उजागर किया है जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं–

(1) बौद्धिक क्षमता की कमी–वर्ट (1937) द्वारा किए गए अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि बालकों के पिछड़ेपन का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण उम्र के अनुसार बौद्धिक क्षमता का कम या बिल्कुल ही न होना होता है। बौद्धिक क्षमता के अभाव में वे सामान्य या औसत बुद्धि के बालकों के लिए बनाए गए पाठ्यक्रम को समझ नहीं पाते हैं और परिणामस्वरूप पिछड़ जाते हैं। बर्ट ने अपने अध्ययन में पाया कि पिछड़े बालकों में 95% बालक ऐसे थे जिनकी बुद्धि औसत बुद्धि से कम थी। अत: स्पष्ट हो जाता है कि बालकों के पिछड़ेपन में बौद्धिक क्षमता की कमी एक प्रधान कारक है।

(2) वातावरण का प्रभाव–छात्रों के पिछड़ेपन में वातावरण का भी प्रभाव काफी पड़ता है। बर्ट के अध्ययन के अनुसार आदि बालक का घरेलू वातावरण तथा स्कूल वातावरण शिक्षा की दृष्टि से उत्साहवर्द्धक नहीं होता है, तो इससे बालकों की शैक्षिक आयु वास्तविक आयु के अनुकूल नहीं बढ़ पाती है और बालक शैक्षिक रूप से पिछड़ जाते हैं। अक्सर देखा गया है कि गरीब माता-पिता बालकों को जरूरत के अनुसार कॉपी, कागज, पेंसिल, कलम, किताब तथा अन्य शिक्षण सामग्री नहीं खरीद पाते। फलस्वरूप, उनकी शैक्षिक अभिरुचि घटने लगती है ओर इस तरह वे कक्षा में पिछड़ने लगते हैं।

3. शारीरिक दोष–शारीरिक दोष के कारण भी बालक शैक्षिण रूप से पिछड़ जाते हैं। अंधे, बहरे, गूँगे बालकों में पिछड़ेपन का मूल कारण उनकी शारीरिक विकलांगता ही होती है। अपने शारीरिक दोष के कारण ऐसे बालकों की अभिरुचि शिक्षा में कम होने लगती है। बर्ट के अध्ययन के अनुसार करीब 9% बालकों के पिछड़ेपन का कारण यही शारीरिक दोष है।

4. स्वभाव संबंधी दोष–बर्ट ने अपने अध्ययन में पाया कि कुछ बालक स्वभाव संबंधी दोष के कारण अपने साथियों से पिछड़ जाते हैं। ऐसे बालक प्राय: तुनुकमिजाज, आक्रामक एवं संवेगात्मक रूप से अस्थिर होते हैं। ऐसे गुणों के कारण उनका समायोजन कक्षा में न तो शिक्षक के साथ और न ही अपने साथियों के साथ हो पाता है जिसका परिणाम यह होता है कि वे कक्षा में पिछड़ जाते हैं। बर्ट ने अपने अध्ययन में पाया कि करीब 9% पिछड़े बालकों का कारण उनका स्वभाव संबंधी दोष था।

5. कर्त्तव्यत्यागता–कुछ बालक ऐसे होते हैं जो कक्षा में ठीक ढंग से शिक्षक के व्याख्यान पर ध्यान नहीं देते और मौका मिलते ही कक्षा से भाग खड़े होते हैं। जब कक्षा में वे नियमित रूप से बैठते ही नहीं हैं, तो उन्हें पाठ्यक्रम ठीक ढंग से नहीं समझ में आता है और इससे उनकी शैक्षिक अभिरुचि उत्तरोत्तर घटती जाती है और कक्षा में वे पिछड़ते चले जाते हैं। बर्ट के अध्ययन के अनुसार करीब 10% बालक ऐसे होते हैं जिनके पिछड़ेपन का कारण स्कूल की कक्षा से अनुपस्थित होना बताया गया है।

11.4.3 पिछड़े बालक की समस्या

शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने पिछड़े बालक की कुछ समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया है जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. पिछड़े बालकों की सबसे बड़ी समस्या कक्षा में समायोजन से संबंधित होती है। ऐसे बालकों को कक्षा का पाठ्यक्रम काफी कठिन लगता है जिसे वह समझ नहीं पाते और वे अन्य समकक्षी बालकों की तुलना में पीछे रह जाते हैं।
2. ऐसे बालकों की मनोवृत्ति स्कूल एवं शिक्षकों के प्रति नकारात्मक होती हैं, क्योंकि उनकी स्कूल में साथियों द्वारा अक्सर खिल्ली उड़ायी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि इन बालकों में संवेगात्मक समस्याएँ अधिक गंभीर होती हैं।
3. ऐसे बालकों में पढ़ने-लिखने एवं सीखने की प्रेरणा बहुत ही कम होती है, क्योंकि इनकी घरेलू एवं व्यक्तिगत अनुभूतियाँ इतनी तीखी एवं कुंठापूर्ण होती हैं कि उनके ऐसे अभिप्रेरणों को वे बिल्कुल ही समाप्त कर देती हैं।
4. ऐसे बालकों को चूँकि लगातार असफलता ही असफलता मिलती हैं अत: इनमें आत्म-विश्वास, मनोबल एवं आत्मनिर्भरता जैसा कोई गुण नहीं विकसित कर पाता है। फलस्वरूप ऐसे बालकों को सीखने की कोई अभिरुचि नहीं रह जाती है।
5. ऐसे बालक अधिक चिन्तित एवं तनावग्रस्त रहते हैं, क्योंकि वे अनुभव करने लगते हैं कि उनकी शैक्षिक उपलब्धियाँ काफी पीछे पड़ रही हैं।

11.4.4 पिछड़े बालक की शिक्षा एवं अभियोजन

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि पिछड़े बालकों की सबसे बड़ी समस्या शिक्षा एवं समायोजन से संबंधित है। अत: शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे बालकों की शिक्षा एवं समायोजन के विशेष उपायों का वर्णन किया है। इनमें कुछ प्रमुख उपायों का वर्णन निम्नांकित हैं :

1. **मानसिक क्षमता के अनुकूल शिक्षा**–बर्ट (1937) के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि मंदबुद्धिता के कारण पिछड़नेवाले बालकों की संख्या करीब-करीब 95% है। मंदबुद्धिता के कारण ऐसे बालक सामान्य बालकों के लिए बने पाठ्यक्रम को समझ नहीं पाते और वे कक्षा में पिछड़ते चले जाते हैं। अत: कुछ मनोवैज्ञानिकों ने ऐसा सुझाव दिया है कि इन बालकों को उनके बुद्धि स्तर के अनुकूल अलग से पाठ्यक्रम तैयार कर उन्हें शिक्षा देनी चाहिए। ऐसी परिस्थिति में पिछड़े बालक उन्नत शिक्षा पा सकेंगे तथा अपनी कक्षा में अन्य बालकों के साथ समायोजन भी ठीक ढंग से कर सकेंगे। जहाँ तक संभव हो, ऐसे बालकों की शिक्षा व्यवस्था विशिष्ट कक्षा बनाकर या विशिष्ट स्कूल बनाकर दी जानी चाहिए।

2. **व्यक्तिगत ध्यान**–पिछड़े बालकों की उचित शिक्षा देने तथा वर्ग में उपयुक्त समायोजन करने में मदद के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक छात्र के पिछड़ेपन पर व्यक्तिगत ध्यान दें तथा साथ-ही-साथ उनके पिछड़ेपन के कारणों का पता लगाकर उसे दूर करने की कोशिश करें। व्यक्तिगत ध्यान देने से छात्र की असफलता के सही-सही कारणों का पता शिक्षक को चल जाता है और तब वे उसी के अनुसार अपना कार्यक्रम तय कर बालकों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो उठते हैं।

3. **उपयुक्त वातावरण प्रदान करना**–पिछड़े बालकों में उपयुक्त घरेलू एवं स्कूली वातावरण की कमी एक प्रमुख कारण है। अत: शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने इस बात पर बल डाला है कि ऐसे बालकों के घरेलू वातावरण शिक्षा के दृष्टिकोण से उत्तेजक एवं अनुकूल होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इनके घर पर किताब, कॉपी पेंसिल एवं कलम आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों तथा घर पर अच्छा शैक्षिक निर्देशन किसी योग्य व्यक्ति द्वारा दिया जानाा चाहिए।

4. **शारीरिक दोषों में सुधार लाकर**–पिछड़े बालकों का कुछ प्रतिशत ऐसा होता है कि जिनमें शारीरिक दोष के कारण ही पिछड़ेपन मूल रूप से पाया जाता है। इन दोषों में दृष्टिदोष, श्रवण दोष, भाषा संबंधी दोष आदि प्रधान होते हैं। यदि ये दोष ऐसे हैं जिन्हें उपचार करके कम किया जा सकता है, तो शिक्षकों, अभिभावकों एवं स्कूल अधिकारियों को चाहिए कि वे इन दोषों को पहले उपचार करने की समुचित व्यवस्था करें और तब ऐसे बालकों को शिक्षा दी जाए। इससे बहुत उम्मीद इस बात की हो जाती है कि ऐसे बालकों का पिछड़ापन समाप्त हो जाएगा और इनकी शैक्षिक उपलब्धियाँ कक्षा के अन्य बालकों की तुलना में बराबर-बराबर हो जाएँगी।

5. शिक्षकों को चाहिए कि ऐसे बालकों की अभिरुचि उन विषयों में जागृत करें जिनमें वे अधिक पिछड़े हुए हैं। इसके लिए प्रशिक्षकों को विशेष प्रयास करना चाहिए और उनकी अभिरुचि बनाए रखने के लिए बालकों को, विशेषकर छोटे बालकों को खिलौने तथा श्रव्य दृष्टि साधनों का प्रयोग अधिक करना चाहिए।

6. शिक्षकों को चाहिए कि ऐसे बालकों की शिक्षा के लिए विशिष्ट विधि का सहारा लें जिससे छत्रों की अभिरुचि, रुझान एवं प्रेरणा शिक्षक द्वारा बताए गए तथ्यों एवं पढ़ाए गए विषयों में सर्वाधिक हो।

11.5 प्रतिभाशाली बालक का अर्थ (Meaning of Exceptional Child)

प्रतिभाशाली बालक किसे कहते हैं? साधारणत: ऐसे बालक को प्रतिभाशाली कहा जाता है जिसकी बुद्धि औसत बालकों की तुलना में अधिक तीव्र होती है। परन्तु, प्रश्न यह है कि ऐसे बालक की बुद्धि कितनी तीव्र होती है ? उनकी बुद्धिलब्धि कितनी होती है ? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतभेद है। टरमन तथा मेरिल के अनुसार 140 या इससे अधिक बुद्धि लब्धि वाले बालक को ही प्रतिभाशाली कहते हैं। गोडाई के अनुसार 130 या इससे अधिक बुद्धि लब्धि वाले बालक प्रतिभाशाली कहे जाते हैं। इसी तरह हॉलिंगवर्थ ने प्रतिभाशाली बालकों की न्यून सीमा 120 बुद्धि लब्धि बतलाई हैं। लेकिन अधिकांश मनोवैज्ञानिक टरमन तथा मेरिल के विचार से ही सहमत हैं।

आधुनिक विद्वानों के अनुसार प्रतिभाशाली शब्द से न केवल मानसिक श्रेष्ठता का बोध होता है बल्कि शारीरिक, सामाजिक, नैतिक तथा संवेगात्मक श्रेष्ठता का भी परिचय मिलता है। इसीलिए, कालेस्निक ने इस शब्द का प्रयोग बड़े ही व्यापक अर्थ में किया है। उसके अनुसार "प्रतिभाशाली, शब्द का प्रयोग उस बालक के लिए किया जाता है जो अपने आयु स्तर के बालकों से किसी योग्यता में श्रेष्ठ हो ओर हमारे समाज के कल्याण में विशिष्ट रूप से सहायक हो।"

11.5.1 प्रतिभाशाली बालकों की विशेषताएँ

प्रतिभाशाली बालकों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. मानसिक शीलगुण–प्रतिभाशाली बालकों की एक मुख्य विशेषता यह है कि सामान्य साधारण बालकों की अपेक्षा उनकी मानसिक योग्यता कहीं अधिक होती है। इस सम्बन्ध में किए गए अध्ययनों के आधार पर प्रतिभाशाली बालकों की बुद्धि लब्धि 140 से अधिक बताई जाती है। एक सामान्य बालक की बुद्धि लब्धि की उच्चतम सीमा 100 है और एक प्रतिभाशाली बालक की बुद्धि लब्धि की न्यूनतम सीमा 140 है।

2. शारीरिक शीलगुण–प्रतिभाशाली बालक सामान्य बालकों की अपेक्षा लम्बे तथा भारी बदन के होते हैं। जन्म के समय ही वे औसत बच्चों से एक पौण्ड अधिक भारी तथा डेढ़ इंच अधिक लम्बे होते हैं। समाज में एक गलत धारणा बहुत दिनों तक बनी रही कि प्रतिभाशाली बालक शारीरिक त्रुटियों से पीड़ित होते हैं। इस संदर्भ में कुछ विद्वानों का व्यक्तित्व उच्च कोटि का उदाहरण माना जाता है।

3. सामाजिक एवं आर्थिक स्तर–प्रतिभाशाली बालक प्रायः उच्च वंशपरम्परा के होते हैं। उनके माता-पिता औसत जनसंख्या की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान एवं शिक्षित होते हैं। उनका सम्बन्ध उच्च व्यवसाय या पेशा से होता है। इसके विपरीत, कभी-कभी निम्न वंश परम्परा तथा गरीब परिवार के बालक भी प्रतिभाशाली निकल जाते हैं।

4. सामाजिक एवं संवेगात्मक शीलगुण–प्रतिभाशाली बालक अपनी आयु के औसत बालकों से अधिक सामाजिक होते हैं। दूसरे शब्दों में उनमें सामाजिक तथा संवेगात्मक परिपक्वता अधिक पाई जाती है। शिक्षण, खेल-कूद, वाद-विवाद आदि क्षेत्रों में वे श्रेष्ठ होते हैं। उनमें नेतृत्व का गुण भी पाया जाता है।

5. शिक्षण एवं शिक्षा–प्रतिभाशाली बालकों में उस उम्र के बालकों की अपेक्षा सीखने की योग्यता अधिक होती है। वे तीन माह पहले बोलना शुरू करते हैं तथा 2 माह पहले चलना सीख लेते हैं। उनका शब्द भण्डार अपेक्षाकृत बड़ा होता है। लगभग 50 प्रतिशत ऐसे बालक स्कूल में प्रवेश पाने के पूर्व ही पढ़ना सीख जाते हैं। उनकी अभिरुचि अमूर्त विषयों में अधिक होती है। वे अपनी सूझ एवं अपने पूर्वअनुभवों से लाभ उठाने में दक्ष होते हैं। मात्र संकेत से ही वे बहुत कुछ समझ पाते हैं।

6. प्रतिज्ञा पालन–प्रतिभाशाली बालकों की एक विशेषता यह भी है कि वे अपने बचपन के लक्षणों को युवावस्था में भी कायम रखते हैं। आयुवृद्धि के साथ उनकी योग्यताओं में ह्रास या कमी नहीं होती बल्कि एक खास अनुपात में वे बढ़ती रहती हैं। टरमन ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के छात्रों तथा छात्राओं का अध्ययन करके यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि प्रतिभाशाली बालकों तथा समान आयु के औसत बालकों की योग्यताओं का अनुपात युवावस्था में भी लगभग समान रहता है।

7. अन्य विशेषताएँ–टरमन के अनुसार प्रतिभाशाली बालकों में मौलिकता, आनन्दवृत्ति, सामान्यीकरण की क्षमता, धैर्य आदि गुण पाए जाते हैं।

हिल महोदय ने प्रतिभाशाली बालकों पर प्रयोगात्मक अध्ययन किया और अपने अध्ययनों के आधार पर निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया–

(1) एकाग्रता की अत्यधिक क्षमता,

(2) मौलिकता

(3) सामान्यीकरण की अत्यधिक क्षमता

(4) अमूर्त विषयों में अभिरुचि

(5) अल्प प्रतिक्रिया काल

(6) समीकरण तथा विषयों को समझने की अत्यधिक योग्यता

(7) आत्म मूल्यांकन की योग्यता

11.5.2 प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा एवं उनका अभियोजन :

प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा शिक्षक, शिक्षाशास्त्री एवं अधिकारी के सामने एक गंभीर समस्या है। वास्तव में शिक्षा एवं अभियोजन की दृष्टि से ऐसे बालक एक बड़ी हद तक समस्या बालक होते हैं। इसका कारण यह है कि सामान्य पाठ्यक्रम मानसिक योग्यता के समरूप नही होते हैं। उनके लिए यह पाठ्यक्रम इतना आसान होता है कि वे सहज ही थोड़े समय में ही उसे सीख जाते हैं। फिर उस पाठ्यक्रम में उनकी अभिरुचि बाकी नहीं रहती है। इसका फल यह होता है कि एक ओर वे अपनी योग्यता का पूरा लाभ नहीं उठा पाते और दूसरी ओर अपने पाठ्यक्रम, शिक्षक एवं विद्यालय के प्रति उदासीन बन जाते हैं। वर्ग में शरारत करना, स्कूल से भागना, घर पर नहीं रहना, दिवास्वप्न में समय बिताना आदि व्यवहार करने लगते हैं। इस प्रकार कुछ बालक तो बाल- अपराधी बन जाते हैं और कुछ अपनी प्रतिभा का जनाजा निकाल कर किसी तरह अपनी जीविका उपार्जन करने लगते हैं।

लुट्टि (1947) के अनुसार प्रतिभाशाली बालक निम्नलिखित कारणों से कुसमायोजित हो जाते हैं तथा शिक्षा में पिछड़ जाते हैं।

1. प्रतिभाशाली बच्चों को अपनी प्रतिभा की मान्यता शिक्षक द्वारा नहीं मिलने पर शिक्षालय के प्रति उनमें प्रतिरोध उत्पन्न होता है।
2. ऐसे बच्चों को माता-पिता द्वारा अपनी प्रतिभा या श्रेष्ठता की मान्यता नहीं मिलने पर, उनमें उत्तेजन तथा धनात्मक प्रबलन की कमी हो जाती है।
3. ऐसे बच्चों में श्रेष्ठता की भावना अधिक हो जाने पर सामान्य बुद्धि के बच्चों के साथ सामाजिक अभियोजन काफी कठिन बन जाता है।
4. कक्षा कार्य के उत्तेजन के अभाव में अध्ययन आदत का विकास नहीं हो पाता है।
5. समूह द्वारा प्रतिभाशाली बच्चों के कार्यों को सामाजिक मान्यता नहीं मिलने पर उनमें हीनभावना विकसित हो जाती है।
6. वयस्कों द्वारा प्रतिभाशाली बच्चों की अनावश्यक प्रशंसा के कारण उनमें घमण्ड, अहंकार आदि शीलगुणों का विकास हो जाता है।
7. सामान्य सामजिक क्रियाओं के अभाव में व्यक्तित्व का एकतरफा विकास हो जाता है।

इस प्रकार अधिक बुद्धि होते हुए भी प्रतिभाशाली बालक समुचित शिक्षा पाने में समर्थ नहीं होते हैं। अब प्रश्न यह है कि ऐसे बालकों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था क्या हो ? किन-किन तरीकों से उन्हें शिक्षा दी जाए कि वे अपनी बुद्धि का समुचित लाभ उठा सकें ? इस सम्बन्ध में किए गए प्रयोगात्मक अध्ययनों तथा खोजों के आधार पर शिक्षाशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित उपायों की चर्चा की है :

1. शीघ्र वर्ग उन्नति—प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें अतिरिक्त उन्नति दी जाए। यदि कोई बालक अपने वर्ग के छात्रों की अपेक्षा अत्यधिक बुद्धि या प्रतिभा वाला हो तो उसे शीघ्र ही दूसरे उच्चतर वर्ग में भेज देना चाहिए। ऊँचे वर्ग का पाठ्यक्रम अपेक्षाकृत कठिन होने के कारण उस बालक की योग्यता के अनुकूल होगा जिससे उसकी अभिरुचि पाठ्यक्रम में बनी रहेगी तथा उसकी शिक्षा समुचित रूप से ही होनी चाहिए। कॉलेज तथा विश्वविद्यालय स्तरों पर इसके बदले अतिरिक्त विषय तथा प्रतिष्ठा विषय की व्यवस्था उपयोगी है।

2. पाठ्यक्रम की समृद्धि—प्रतिभाशाली बालकों की उचित शिक्षा के लिए दूसरा तरीका यह है कि ऐसे बालकों के लिए समृद्ध पाठ्यक्रम की व्यवस्था की जाए। पाठ्यक्रम उस कक्षा के सामान्य बालकों के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम से ऊँचे स्तर का हो तथा उसमें अमूर्त विषयों की अधिकता हो। इस प्रकार सामान्य बालकों के साथ एक ही कक्षा में रख कर भी प्रखर बुद्धि के बालकों के लिए ऊँचे स्तर की शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। इससे एक ओर वे अपनी योग्यता का पूरा-पूरा लाभ उठा पाते हैं और दूसरी ओर अपने साथियों के साथ अभियोजित हो पाते हैं।

इस दिशा में जो प्रयोगात्मक अध्ययन हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि ऐसे बालकों के लिए यह शिक्षा व्यवस्था काफी उपयुक्त है। सिल्वेस्टर ने अपने अध्ययनों के आधार पर बतलाया है कि वर्ग उन्नति की अपेक्षा यह तरीका अधिक उपयोगी है। जर्किल ने इस बात पर जोर दिया है कि पहले वर्ग उन्नति ओर उसके बाद पाठ्यक्रम की समृद्धि आवश्यक है। लेकिन, फ्रीमैन ने ठीक ही कहा है कि वर्ग उन्नति में पाठ्यक्रम की समृद्धि भी निहित है। अतः इन दोनों में कोई विरोध नहीं है।

कुछ शिक्षा विशेषज्ञों ने प्रतिभाशाली बालकों की इस शिक्षा व्यवस्था की आलोचना की है। उनका कहना है कि इसमें व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। एक ही कक्षा में दो प्रकार के पाठ्यक्रमों को चलाना आसान नहीं है। दूसरी बात यह है कि इससे एक ओर प्रतिभाशाली बालकों में श्रेष्ठता का भाव तथा दूसरी ओर सामान्य बालकों में हीनता का भाव उत्पन्न होता है जो शैक्षिक विकास के लिए हानिप्रद है।

3. विशिष्ट कक्षा का प्रबंध—उपर्युक्त त्रुटियों तथा कठिनाइयों का ध्यान में रखते हुए गोडार्ड ने प्रतिभाशाली बालकों की समुचित शिक्षा के लिए विशिष्ट कक्षा की सिफारिश की है। उन्होंने इस शिक्षा व्यवस्था के दो मुख्य उपयोगों का वर्णन किया है। पहला, कक्षा के सभी बालकों के बौद्धिक स्तर समान होने से उनके लिए समान पाठ्यक्रम, उपर्युक्त अध्ययन विधि तथा योग्य शिक्षिकों की व्यवस्था करने में आसानी होती है। दूसरा, समान बौद्धिक स्तर होने के कारण उनमें प्रतियोगिता की भावना पैदा होती है जो सफल शिक्षा के लिए जरूरी है। तीसरा, कक्षा के सभी बालक लगभग समान बुद्धि के होते हैं, इसलिए श्रेष्ठता या हीनता का भाव उत्पन्न नहीं हो पाता है।

लेकिन, डॉ० मायर्स तथा उनके समर्थकों ने इस प्रयोजन का खंडन करते हुए कहा है कि प्रतिभाशाली बालकों के लिए सामान्य एवं निम्न श्रेणी के बालकों से अलग विशिष्ट कक्षा का प्रबन्ध करना कई अर्थों में हानिकारक है। पहला, प्रतिभाशाली बालक अपने विशिष्ट कक्षा के बालकों के साथ भले अभियोजित हो जाएँ, किन्तु औसत या उससे नीचे के स्तर के बालकों के साथ उनका अभियोजन कदापि नहीं हो सकेगा। दूसरा, इसे प्रतिभाशाली बालकों में श्रेष्ठता का भाव तथा अन्य श्रेणियों के बालकों में हीनता का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। तीसरा, यह व्यवस्था अप्रजातन्त्रात्मक है।

इन त्रुटियों के बावजूद अधिकांश शिक्षा विशेषज्ञ एवं मनोवैज्ञानिक इसके पक्ष में हैं। ई० एच० मार्टिन्स ने कहा है कि प्रखर बुद्धि के बालकों की उचित शिक्षा के लिए विशिष्ट कक्षा का प्रबन्ध एक उपयुक्त एवं ठोस कदम है।

4. विशिष्ट योजनाएँ—प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा की लिए विशिष्ट योजनाओं का प्रबन्ध आवश्यक है। इन योजनाओं में किस्सा-कहानी, कविता, नाटक, चित्रकारी, वाद-विवाद आदि शामिल किए जा सकते हैं। लेकिन, ध्यान रहे कि इन योजनाओं की व्यवस्था बालकों की आयु, मनोवृत्ति एवं अभिरुचि के अनुकूल हो अन्यथा जैसा कि काईट ने कहा है, इस योजना का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकेगा।

5. योग्य शिक्षक एवं उपर्युक्त अध्यापन विधि—प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा को सफल बनाने के लिए उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त योग्य शिक्षक एवं उपर्युक्त अध्यापन विधि अति आवश्यक है। शिक्षकों को बालकों के प्रति सचेत एवं जागरूक रहना जरूरी है। उनका बौद्धिक स्तर बालकों के बौद्धिक स्तर के कम-से-कम समरूप हो। ऐसे बालकों के लिए प्रयत्न तथा भूल विधि की अपेक्षा सूझ विधि से सीखना अधिक लाभप्रद है। अतः शिक्षकों को चाहिए कि ऐसे बालकों को पढ़ाते समय समझ विधि का ही उपयोग करें।

लेकिन, ऐसा तभी संभव है जबकि ऐसे बालकों की शिक्षा की अलग व्यवस्था हो।

6. पृथक शैक्षणिक संस्था—आधुनिक शिक्षा विशेषज्ञों तथा मनोवैज्ञानिकों ने प्रतिभाशाली बालकों की समुचित शिक्षा के लिए पृथक शैक्षणिक संस्था की सिफारिश की है। इस संस्था में केवल प्रखर बुद्धि के बालकों का ही नामांकन होना चाहिए। इससे बालकों की योग्यता, मनोवृत्ति एवं अभिरुचि के अनुकूल पाठ्यक्रम बनाने तथा उपयुक्त अध्यापन विधि को व्यवहार करने में सुविधा होगी। साथी-ही-साथ कुशल एवं योग्य बालकों की नियुक्ति हो सकेगी। इसी तरह विशिष्ट योजना तथा पाठ्येतर क्रियाओं को लागू किया जा सकेगा। किस प्रकार प्रतिभाशाली बालक अपनी योग्यता का पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे तथा उनकी शिक्षा उचित रूप से हो सकेगी।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रतिभाशाली बालकों की समुचित शिक्षा के लिए उपर्युक्त तरीकों पर अमल करना आवश्यक है ताकि इन बालकों की प्रतिभा मरूभूमि के वायुमण्डल में क्षय सुगन्ध की तरह नष्ट न हो सके।

11.6 सारांश

अन्त में इस भाग में पाठ्य सामग्री का सारांश प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. विशिष्ट या असाधारण बालक का तात्पर्य वैसे बालक से है जो शारीरिक या मानसिक शीलगुणों में सामान्य बालकों से भिन्न होते हैं। इसके अन्तर्गत कई तरह के बालक आते हैं। जैसे—अंधे, बहरे, गूँगे, प्रतिभाशाली, मानसिक दुर्बल तथा पिछड़े बालक इत्यादि।

2. शारीरिक विकलांग बालकों का तात्पर्य है कि जो बालक ज्ञानात्मक, क्रियात्मक या अन्य शारीरिक दोषों से पीड़ित है। उन्हें शारीरिक विकलांग कहते हैं। जैसे, अंधे, बहरे, गूंगे आदि शारीरिक विकलांग बालक हैं। शारीरिक विकलांग बालकों के कई प्रकार हैं—जिनमें मुख्य हैं—पूर्ण तथा आंशिक अंधे, पूर्ण तथा आंशिक बहरे, भाषा विकृत बालक आदि। पूर्ण अंधे बालकों की शिक्षा तथा अभियोजन के लिए कई पद्धतियाँ एवं उपाय हैं जिसमें ये कुछ मुख्य हैं—ब्रेल पद्धति, विद्युत पद्धति, विशिष्ट पाठ्यक्रम, विशिष्ट आवासीय स्कूल आदि। पूर्ण बहरे बालक की शिक्षा एवं अभियोजन के लिए कई उपाय हैं—विद्युत पद्धति, स्कूल, भाषा सुधार पद्धति आदि। इन उपायों को अपनाकर देश तथा समाज से शारीरिक विकलांगता में कमी लायी जा सकती है।

3. मंद बुद्धि के बालकों का तात्पर्य वैसे बालकों से है जिसकी बौद्धिक योग्यता, शिक्षण क्षमता, सामाजिक अभियोजन, परिपक्वता की गति आदि औसत बालकों से कम होती है। मंद बुद्धि के बालकों का लक्षण या विशेषता कई आधार पर देखी जाती हैं—बौद्धिक क्षमता के आधार पर, शरीरिक लक्षण के आधार पर, सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था के आधार पर, सीखना एवं शिक्षा के आधार पर, अन्य बहुत सारे तथ्य हैं जिसके आधार पर मानसिक दुर्बल बच्चों की पहचान की जाती है। मंद बुद्धि बालकों के कई प्रकार

हैं–जैसे–साधारण मानसिक मंदता, अल्पबल मानसिक मन्दता, गंभीर मानसिक मंदता, गहन मानसिक मंदता आदि। शिक्षा विशेषज्ञों तथा मनोवैज्ञानिकों ने मंद बुद्धि के बालकों की समुचित शिक्षा के कई प्रयोजनों का सुझाव प्रस्तुत किये हैं–उपर्युक्त पाठ्यक्रम, विशिष्ट वर्ग, उपयुक्त अध्यापन विधि, पाठेतर क्रिया, चरित्र निर्माण, विशिष्ट आवासीय स्कूल इत्यादि। इन उपायों को क्रियान्वित कर इन मन्दबुद्धि के बालकों को बहुत हद तक सफलतापूर्वक शिक्षित एवं अभियोजनशील बनाया जा सकता है।

4. पिछड़े बालक का तात्पर्य सामान्यत: वैसे बालकों से होता है जो बुद्धि शिक्षा आदि में अपने समकक्षियों से काफी पीछे रह जाते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने बालकों के पिछड़ेपन के कई कारण को दर्शाया है जो अग्रलिखित हैं–बौद्धिक क्षमता की कमी, वातावरण का प्रभाव, शारीरिक दोष, स्वभाव संबंधी दोष, कर्त्तव्यत्यागिता इत्यादि। साथ-ही-साथ इन बालकों की अनेक समस्याएँ हैं। जैसे–कक्षा में समायोजन संबंधी, संवेगात्मक समस्या, अभिप्रेरणात्मक समस्या इत्यादि। पिछड़े बालकों की उपयुक्त शिक्षा एवं अभियोजन के लिए कई उपाय प्रस्तुत किये गये हैं। जैसे–मानसिक क्षमता के अनुकूल दोषों में सुधार लाकर, पिछड़े विषयों में अभिरुचि जागृत कर इत्यादि। इस तरह हम पाते हैं कि मनोवैज्ञानिकों तथा शिक्षाशास्त्रियों ने पिछड़े बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन के कई उपाय प्रस्तुत कर उसे समाज की मुख्य धारा में जोड़ने का सफल प्रयास किया है।

5. सामान्य प्रतिभाशाली बालक ऐसे बालकों को कहा जाता है जिसकी बुद्धि औसत बालकों की तुलना में अधिक तीव्र होती है अर्थात् उसकी बुद्धि 140 या उससे भी अधिक होती है। प्रतिभाशाली बालकों के कई शीलगुण हैं–मानसिक शीलगुण, शारीरिक शीलगुण, सामाजिक एवं आर्थिक स्तर, सामाजिक एवं संवेगात्मक शीलगुण, शिक्षण एवं सामान्य ज्ञान, अमूर्त चिन्तन, बुद्धि परीक्षणों पर उच्च प्राप्तांक इत्यादि बहुत सारे लक्षण हैं जिसके आधार पर औसत बालकों से अलग किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों ने वर्तमान वातावरण को देखते हुए प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन के लिए कई उपाय किये हैं जो इस प्रकार से हैं– शीघ्र वर्ग उन्नति, पाठ्यक्रम की समृद्धि, विशिष्ट कक्षा का प्रबंध, विशिष्ट योजनाएँ, योग्य शिक्षण एवं उपयुक्त अध्यापन विधि, पृथक शैक्षणिक संस्था।

अत: उपर्युक्त उपायों पर अमल करना आवश्यक है ताकि इन बालकों की प्रतिभा मरुभूमि के वायुमंडल में क्षय सुगंध की तरह नष्ट न हो जाए।

11.7 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

विशिष्ट या असाधारण बालक, मंद बुद्धि, पिछड़ा बालक, प्रतिभाशाली, मानसिक दुर्बल, शारीरिक विकलांग, अभियोजित, भाषा विकृत, वैयक्तिक शीलगुण, धातु प्लेट, ब्रेल सामग्री, विद्युत पद्धति, वंश परम्परागत, व्यावसायिक शैशवावस्था, श्रवण केन्द्र, उच्चारण, नियंत्रण, प्रोत्साहन, समायोजन, शब्दकोष, अमूर्त चिन्तन, पाठ्यक्रम वास्तविक आयु, काल्पनिक आयु, पिछड़ेपन, वातावरण, मानसिक क्रिया, आत्म मूल्यांकन, श्रेष्ठता भाव आदि।

11.8 अभ्यास के प्रश्न

11.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विशिष्ट या असाधारण बालक से आप क्या समझते हैं ?
उत्तर–देखें 11.1

2. **शारीरिक विकलांग बालक किसे कहते हैं ?**
   उत्तर–देखें 11.2
3. **पिछड़े बालकों की क्या विशेषतायें हैं ?**
   उत्तर–देखें 11.4.1
4. **मंद बुद्धि के बालकों की शिक्षा किस प्रकार संभव है ?**
   उत्तर–देखें 11.3.3
5. **पूर्ण बहरे बालकों का अभ्यियोजन किस प्रकार से हो सकता है ?**
   उत्तर–देखें 11.2.4

11.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. **शारीरिक विकलांग बालक से आप क्या समझते हैं ? बहरे बालकों की शिक्षा एवं अभियोजन किस प्रकार से संभव है?**
   उत्तर–देखें 11.2 तथा 1.2.3
2. **मंद बुद्धि बालक के क्या लक्षण हैं ? मन्द बुद्धि बालक के प्रकारों का वर्णन करें।**
   उत्तर–देखें 11.3.1 तथा 11.3.2
3. **प्रतिभाशाली बालक की विशेषतायें क्या हैं ? ऐसे बालक की शिक्षा एवं अभियोजन किस प्रकार से संभव है ?**
   उत्तर–देखें 11.8.1 तथा 11.8.2

11.9 प्रस्तावित पाठ

1. एस० एस० माथुर : **शिक्षा-मनोविज्ञान**
2. अरुण कुमार सिंह : **शिक्षा-मनोविज्ञान**
3. **Essentials of Educational Psychology**

◆◆◆

शैक्षणिक निर्देशन एवं परामर्श
Educational Guidance and Conselling

पाठ संरचना

12.0 उद्देश्य
12.1 निर्देशन का अर्थ एवं विशेषता
12.2 निर्देशन के प्रकार
12.3 शिक्षा में निर्देशन की उपयोगिता
12.4 स्कूल में शैक्षिक निर्देशन की आवश्यकता
12.5 निर्देशन की विधियाँ
12.5.1 व्यक्तिगत निर्देशन की प्रविधि
12.5.2 सामूकि निर्देशन की प्रविधि
12.6 निर्देशन कार्यक्रम में शिक्षक एवं परामर्शदाता की भूमिका
12.7 निर्देशन एवं परामर्श से संबंधित कोठारी आयोग की सिफारिशें
12.8 सारांश
12.9 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
12.10 अभ्यास के प्रश्न
12.10.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
12.10.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
12.11 प्रस्तावित पाठ

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का मुख्य उद्देश्य पाठक को यह समझाना है कि निर्देशन का क्या अर्थ है ? इसकी क्या विशेषताएँ हैं ? इसके कौन-कौन से प्रकार हैं ? इसकी शिक्षा में क्या उपयोगिताएँ हैं ? इनकी प्रचलित कौन-कौन सी विधियाँ हैं ? यह किस प्रकार परामर्श से भिन्न है ? इत्यादि, यहाँ पाठक को यह बतलाने की चेष्टा की जायगी कि निर्देशन में किस तरह की भूमिका परामर्शदाता निभाते हैं ? अन्य पाठ की भाँति यहाँ भी सारांश, पाठ में प्रयुक्त शब्द कुंजी, अभ्यास के लिए प्रश्न तथा अन्य उपयोगी पाठ्य सामग्रियों का वर्णन किया जायगा। अन्त में लघु उत्तरीय तथा दीर्घ उत्तरीय प्रश्न दिये जायेंगे ताकि पाठक स्वयं अपनी उपलब्धि की जाँच कर सकें।

12.1 निर्देशन का अर्थ एवं विशेषता

निर्देशन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी समस्याओं जैसे सामाजिक, व्यक्तिगत एवं शैक्षणिक आदि समस्याओं में समायोजन लाने के लिए अपना मार्गदर्शन खुद करता है, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति इन समस्याओं से जूझना तथा अभियोजन स्थापित करना नहीं जानता या जानते हुए भी नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को एक सलाहकार की जरूरत होती है जो उसकी समस्याओं तथा परिस्थिति के बीच समझौता करा कर मार्ग दर्शन कर सके। मार्ग दर्शन की यही प्रक्रिया निर्देशन कहलाती है।

सामान्य शब्दों में निर्देशन की परिभाषा इस प्रकार से दी जा सकती है–

''निर्देशन वह प्रक्रिया है जो व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं, योग्यताओं एवं साधनों के साथ-साथ अपनी दुर्बलताओं को समझने तथा तदनुसार अपने भावी जीवन को बनाने तथा समाज में अभियोजित होने में सहायता करती हैं।''

विश्लेषण करने पर इस परिभाषा में निम्नलिखित बातें महत्त्वपूर्ण हैं–

(1) निर्देशन एक सहायक प्रक्रिया है।

(2) निर्देशन से व्यक्ति को अपने गुण-अवगुण को समझने में सहायता मिलती है।

(3) वास्तविकता की समझ होती है।

(4) निर्देशन भावी जीवन की रूप-रेखा तैयार करती है तथा

(5) व्यक्ति को समाज में अभियोजित करने में मदद मिलती है।

इस प्रकार जोन्स (1975) ने निर्देशन को इन शब्दों में परिभाषित किया है–

''निर्देशन एक प्रकार की व्यक्तिगत सहायता है जो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के जीवन लक्ष्यों को विकसित करने में तथा समायोजन करने में तथा जीवन लक्ष्यों की प्राप्ति की राह में आने वाली समस्याओं का समाधान करने में दी जाती है।''

(Guidance is the personal help that is given by one person to another in developing life goals in making adjustment and in solving problems that confront him in the attainment of his life." Jones-Principles of educational Psy. 1975.)

इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते हैं–

(1) निर्देशन सहायता देने की एक प्रक्रिया है।

(2) निर्देशन प्रक्रिया दो व्यक्तियों के बीच सम्पन्न होती है, एक निर्देशकर्त्ता तथा दूसरा प्राप्तकर्त्ता।

(3) निर्देशन में व्यक्ति को व्यक्तिगत तथा सामाजिक समायोजन में मदद मिलती है।

(4) निर्देशन के द्वारा व्यक्ति को जीवन लक्ष्य को बुद्धिमत्तापूर्वक समझने में मदद मिलती है।

(5) निर्देशन से समस्याओं को समझने तथा उसके निराकरण में मदद मिलती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो रहा है कि निर्देशन में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देकर उसे अभियोजन तथा जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में मदद देता है। चूँकि निर्देशन प्रक्रिया के जरिए व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के द्वारा कुछ सूचना दी जाती है। अतः यह परामर्श प्रक्रिया से काफी मिलती-जुलती है। निर्देशन तथा परामर्श प्रक्रिया में समानता के बावजूद दोनों प्रक्रियाओं में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है–

परामर्श में दी गई सूचना का मूल उद्देश्य किसी विशेष आदत या लक्षण को दूर करना होता है। अत: ऐसी सूचना का उद्देश्य चिकित्सीय होता है। परन्तु, निर्देशन के क्षेत्र में कही गई सूचना का उद्देश्य व्यक्ति को समस्या के समाधान में तथा उपयुक्त समायोजन करने में मात्र मदद करना होता है।

12.2 निर्देशन के प्रकार

निर्देशन के निम्नलिखित प्रकार हैं–

12.2.1 व्यक्तिगत निर्देशन

12.2.2 शैक्षणिक निर्देशन

12.2.3 व्यावसायिक निर्देशन

12.2.1 व्यक्तिगत निर्देशन (Personal Guidance)

व्यक्तिगत निर्देशन में व्यक्तिगत समस्याओं जैसे–स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ, संवेगात्मक समायोजन सम्बन्धी समस्याएँ, सामाजिक समायोजन सम्बन्धी समस्याएँ तथा चरित्र निर्माण सम्बन्धी समस्याएँ आदि के समाधान के लिए दी जाती है। जैसे, उसे इन व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान करने में खास मदद मिल पाती है। व्यक्तिगत निर्देशन का विशेष फायदा छात्रों को यह हो पाता है कि जब उनकी व्यक्तिगत समस्याओं का अर्थपूर्ण एवं संतोषजनक समाधान निकल पाता है तो वे पूरा ध्यान एवं समय शैक्षिक उपलब्धि को उत्तम बनाने में लगा पाते हैं।

12.2.2 शैक्षिक निर्देशन (Educational Guidance)

स्कूल या कॉलेज में विभिन्न विषयों की शिक्षा के संबंध में छात्रों को जो निर्देशन दिया जाता है, उसे ही शैक्षिक निर्देशन की संज्ञा दी जाती है। इसमें शिक्षक विशेष निर्देश, परीक्षण एवं परामर्श के सहारे छात्रों को शैक्षिक कार्य करने में मदद करते हैं। रेबर 1995 ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है, ''शैक्षिक निर्देशन वह है जहाँ स्कूल के कार्यों में निर्देश, परीक्षण एवं परामर्श के माध्यम से राय देने तथा सहायता पहुँचाने पर बल डाला जाता है।'' स्पष्ट है कि शैक्षिक निर्देशन में छात्रों को मूलत: शैक्षिक कार्यों से संबंन्धित समस्याओं के समाधान में मदद पहुँचाने के उद्देश्य से सहायता पहुँचाई जाती है। शैक्षिक निर्देशन के परिणामस्वरूप छात्र अपनी मानसिक शक्ति, अभिक्षमता, अभिरुचि के अनुसार विषयों या पाठ्यक्रमों का चयन कर लेता है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि विषयों के पाठ्यक्रमों का कई कारणों से गलत चयन हो जाने से छात्र उनके साथ ठीक ढंग से समायोजित नहीं करते हैं और उनकी शैक्षिक समस्याएँ बनी-की-बनी रह जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में भी निर्देशक छात्र को फिर से अपनी बुद्धि, अभिरुचि एवं अभिक्षमता का मूल्यांकन करके उसे उचित विकास के चयन में विशेष मदद करता है। इस तरह स्पष्ट है कि शैक्षिक निर्देशन में छात्र को अपनी अभिरुचि, योग्यता एवं बुद्धि के अनुकूल विषय का या पाठ्यक्रम को ग्रहण करने तथा उससे अधिकतम लाभ प्राप्त करने में मदद मिलती है। इससे शिक्षकों की छात्र की शैक्षिक प्रगति के बारे में संभावित चिन्ता से छुटकारा पाने में भी मदद मिलती है।

यह स्मरणीय है कि प्रत्येक छात्र दूसरे छात्र से भिन्न तो होता है ही, साथ-ही-साथ एक ही छात्र की विभिन्न क्षमताओं के बीच भी अन्तर होता है। कहने का मतलब यह है कि किसी भी छात्र की सभी क्षमताएँ समान ढंग की नहीं होतीं। किसी एक या दो क्षमताओं में वह अधिक श्रेष्ठ एवं प्रतिभाशाली हो सकती है, जबकि अन्य क्षेत्रों में वह मात्र साधारण क्षमता का हो सकता है। निर्देशन छात्र को अपनी इस विशिष्ट क्षमता की खोज न करने तथा उसी के अनुरूप पाठ्यक्रम को चुनकर शिक्षा प्राप्त करने में विशेष मदद करता है।

12.2.3 व्यावसायिक निर्देशन (Occupational Guidance)

व्यवसाय के क्षेत्र में निर्देशन ही व्यावसायिक निर्देश कहलाता है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होता है, अत: उनकी अभिक्षमता, अभिरुचि आदि भिन्न होती है, व्यक्तिगत की व्यक्ति अभिरुचि तथा अभिक्षमता के अनुसार अगर उन्हें कार्य को चुनने में सफलता मिलती है तो उसे अधिक कार्य संतोष होता है। रेबर (1985) ने व्यावसायिक निर्देशन को इस प्रकार परिभाषित किया है–

"व्यावसायिक निर्देशन वह है जहाँ व्यक्ति को किसी खास या उपयुक्त व्यवसाय के चयन में मदद दी जाती है इसमें कई तरह के परीक्षण जैसे–बुद्धि परीक्षण, व्यावसायिक परीक्षण, अभिरुचि परीक्षण, अभिक्षमता परीक्षण, उपलब्धि परीक्षण आदि का प्रयोग किया जाता है।"

इस प्रकार निर्देशन विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। अत: शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा–निर्देशन में निम्नलिखित उपयोगिताओं पर बल दिया है।

12.3 शिक्षा में निर्देशन की उपयोगिता या उद्देश्य

1. पाठ्यक्रम के चयन में मदद करना–शैक्षिक निर्देशन का सबसे प्रधान उद्देश्य शिक्षार्थियों को अपनी अभिरुचि, बुद्धि, अभिक्षमता एवं क्षमता के अनुकूल उपयुक्त विषय या पाठ्यक्रम का चयन करने में मदद करना होता है। इससे छात्रों की शैक्षिक अभिरुचि एवं उपलब्धि दोनों ही बढ़ती है।

2. छात्रों की अपनी अन्त:शक्तियों को समझने में मदद करना–प्रत्येक छात्र में अलग-अलग ढंग की अन्त:शक्तियाँ होती हैं। किसी में एक खास ढंग की आवश्यकता एवं प्रवृत्तियाँ अधिक होती हैं तो किसी दूसरे में दूसरी तरह की आवश्यकताएँ एवं प्रवृत्तियाँ अधिक होती हैं तो किसी दूसरे में दूसरी तरह की आवश्यकताएँ एवं प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं। शिक्षा निर्देशन द्वारा छात्रों को अपनी इन अन्त:शक्तियों की पहचान करने में मदद की जाती है।

3. छात्रों में अध्ययन संबंधी अच्छी आदतों के विकास में मदद करना–निर्देशन का उद्देश्य छात्रों को सिर्फ अपनी अन्त:शक्तियों की पहचान करने में मदद कना ही नहीं होता है बल्कि इसका उद्देश्य छात्रों में उन अन्त:शक्तियों का उपयोग अध्ययन में करना तथा उससे संबंधित अच्छी आदतों को विकसित करना भी बताया गया है।

4. अन्त:शक्तियों को उचित ढंग से विकसित करने के ख्याल से आत्म-निदेशित प्रयास करने में छात्रों की मदद करना–कुछ शिक्षा मनोवैज्ञानिकों का मत है कि शिक्षा निर्देशन द्वारा छात्रों को इस ढंग का प्रयास करने के लिए भी आसानी से प्रेरित किया जाता है कि वे अपनी अन्त:शक्तियों का पूर्णरूपेण विकास करने में सक्षम हों। इसके लिए छात्रों को अभ्यास कराया जाना आवश्यक है।

5. व्यावसायिक उद्देश्यों की पूर्ति में मदद करना–आधुनिक शिक्षा काफी व्यावहारिक एवं व्यवसायमुखी हो चली है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को इस लायक बना देना है कि वे शिक्षा समाप्त कर एक उचित व्यवसाय का चयन कर अपना जीविकोपार्जन कर सकें। शिक्षा निर्देशक छात्रों को इस व्यावसायिक उद्देश्य की पूर्ति में भरसक मदद करता है।

6. व्यक्तिगत कल्याण में मदद करना–शिक्षा-निर्देशन का एक उद्देश्य यह भी है कि छात्र को इस लायक बना दिया जाए कि वे अपने लिए हितकर एवं कल्याणकारी ढंग से सोच सकें तथा अपने-आप में आत्म-विश्वास एवं आत्मबल उत्पन्न कर सकें।

7. सामाजिक कल्याण में सहायता करना–शिक्षा-निर्देशन का उद्देश्य छात्रों को व्यक्तिगत कल्याण के साथ-ही-साथ सामाजिक कल्याण करने में मदद पहुँचाना है। छात्र किस ढंग से अपने आपको जनहित के कार्यों में लगा सकते हैं तथा समाजोपयोगी कार्य कर सकते हैं इसके लिए शिक्षा-निर्देशन उन्हें पर्याप्त सहायता करता है।

8. स्वस्थ समायोजन करने में मदद करना–शिक्षा निर्देशन का उद्देश्य छात्रों को अपने जीवन में स्वस्थ समायोजन करने में मदद करना है। इस तरह के निर्देशन में छात्रों को यह सिखाया जाता है कि वे जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं या क्षेत्रों में किस ढंग से व्यवहार करेंगे ताकि उनका उस परिस्थिति में समुचित समायोजन हो सके।

9. उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग करने में मदद करना–शिक्षा-निर्देशन का उद्देश्य यह भी है कि वे छात्रों को इस लायक बनने मे मदद करें कि वह पठन-पाठन करते समय जितनी तरह के साधन उनके पास उपलब्ध हों, उनका सही-सही प्रयोग कर उससे अधिक-से-अधिक फायदा उठा सकें।

10. छात्रों में पाठ्यक्रम के प्रति उचित अभिरुचि विकसित करने में मदद कना–शिक्षा निर्देशन का उद्देश्य छात्रों में अपने पाठ्यक्रमों के प्रति समुचित अभिरुचि विकसित करने में मदद करना होता है। इस ढंग की अभिरुचि उत्पन्न हो जाने से छात्रों का रुझान अपने अध्ययन के प्रति अधिक हो जाता है और उनकी शैक्षिक उपलब्धि धीरे-धीरे बढ़ने लगती है।

इस तरह हम देखते हैं कि शैक्षिक निर्देशन के कई उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति होना इस बात पर निर्भर करता है कि निर्देशक ने अपना कर्त्तव्य किस हद तक सही-सही ढंग से निभाया है।

12.4 स्कूल में शैक्षिक निर्देशन की आवश्यकता

आजकल शैक्षिक निर्देशन को स्कूल में काफी महत्त्व दिया जा रहा है। कई कारणों से शैक्षिक निर्देशन की आवश्यकता काफी अधिक महसूस की जा रही है। शिक्षाशास्त्रियों एवं शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने निम्नांकित कुछ प्रमुख ऐसे कारण बताए हैं जिससे शिक्षा- निर्देशन की आवश्यकता अधिक महसूस की जाने लगी है–

1. वैयक्तिक भिन्नता में वृद्धि–आजकल छात्रों में वैयक्तिक भिन्नता पहले से काफी बढ़ गई है। एक छात्र की अभिरुचि, आवश्यकता, क्षमता दूसरे छात्रों की अभिरुचि, आवश्यकता, क्षमता आदि से काफी भिन्न हो गई है। इस तरह की वैयक्तिक विभिन्नता के कारण छात्रों को शैक्षिक निर्देशन दिया जाना उचित आवश्यक हो गया है। इसके अभाव में छात्र एक-दूसरे की देखा-देखी कर संभवत: एक ही राह पर चलने की कोशिश करेंगे जिससे उन्हें भविष्य में असफलता हाथ लग सकती है। अत: शैक्षिक निर्देशन देकर प्रत्येक छात्र को अपनी आवश्यकता, क्षमता एवं अभिरुचि के अनुकूल अलग-अलग पथ पर रखकर सफलता की ओर ले जाया जा सकता है।

2. समायोजन की आवश्यकता–बहुत-से छात्र नए स्कूल में दाखिला पाने के बाद अपने-आपको वहाँ के वातावरण में समोयाजित नहीं कर पाते और अपना अध्ययन छोड़ने के लिए राजी हो जाते हैं। ऐसे छात्रों को स्कूल के नए वातावरण में समायोजित करने के लिए शैक्षिक निर्देशन की नितान्त आवश्यकता होती है।

3. व्यावसायिक विषयों में वृद्धि–आधुनिक शिक्षा रोजगारोन्मुखी एवं व्यावहारिक अधिक हो गई है और होती जा रही है। आजकल स्कूल ओर कॉलेज में भी उन विषयों की शिक्षा पर अधिक बल डाला जा रहा है जिनसे छात्र को कोई उपयुक्त रोजगार धंधा प्रारंभ करने में अधिक मदद मिल सके। शायद यही कारण है कि स्कूल में वाणिज्य, ललितकला, गृह विज्ञान जैसे अनेक पाठ्यक्रमों की पढ़ाई प्रारंभ हो गई है। बालकों को उचित शिक्षा निर्देशन देकर इन पाठ्यक्रमों में उनकी अभिरुचि एवं रुझान के अनुकूल उचित पाठ्यक्रम को चुनने तथा उसमें सफलता प्राप्त करने में मदद की जाती है।

4. जीविकाओं एवं अवसरों से परिचय कराने के लिए–स्कूल में अक्सर यह देखा जाता है कि छात्रों को यह पता नहीं होता कि कौन-सा विषय या पाठ्यक्रम लेने से उन्हें आगे चलकर किस व्यवसाय में मदद मिलेगी। उन्हें यह भी पता नहीं होता कि किस विषय को पढ़ने से उन्हें रोजगार के अवसर आगे चलकर

अधिक मिलेंगे तथा किस विषय को पढ़ने से उन्हें रोजगार के अवसर कम मिलेंगे। शिक्षा निर्देशन के माध्यम से उन्हें यह अवगत कराया जाता है कि अमुक विषय को पढ़ने से उन्हें किस तरह के व्यवसाय में मदद मिलेगी तथा उससे रोजगार के अवसर अधिक मिलेंगे। अत: स्कूल में छात्रों को संभावित जीविकाओं एवं अवसरों से परिचय कराने के लिए शिक्षा-निर्देशन की नितान्त आवश्यकता है।

5. शिक्षा के उद्देश्य–शिक्षण विधि एवं पाठ्यक्रम में परिवर्तन–आजकल शिक्षा के उद्देश्य में परिवर्तन आ गए हैं। पहले शिक्षा का उद्देश्य बालकों का मात्र बौद्धिक विकास करना था, परन्तु आजकल शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को इस लायक बना देना है कि वे सभी तरह की व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याओं का हल स्वयं कर सकें। इस दिशा में उन्हें उपयुक्त शैक्षिक निर्देशन की नितान्त आवश्यकता होती है। पहले की शिक्षण विधि कुछ ऐसी थी जिसमें छात्रों की सीमित संख्या होने के कारण शिक्षक छात्रों के व्यक्तित्व के हर पहलू पर ध्यान दे पाते थे। परन्तु, आजकल छात्रों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण ऐसा संभव नहीं हो पाता है। इसकी क्षतिपूर्ति के लिए बालकों को शैक्षिक निर्देशन देना नितान्त आवश्यक हो जाता है। आधुनिक समय में विद्यालय में जो विषय या पाठ्यक्रम बालकों को पढ़ाए जाते हैं, उसका स्वरूप पहले से भिन्न है, क्योंकि इसका संबंध सिर्फ मानसिक विकास से न होकर भविष्य के व्यवसाय या रोजगार से भी होता है। ऐसी परिस्थिति में बालकों को उचित शैक्षिक निर्देशन देकर उन्हें इस लायक बनाया जा सकता है कि वे परिवर्तित पाठ्यक्रमों के साथ अपने-आपको समायोजित कर लें।

6. शिक्षा में अपव्यय को रोकने के लिए–अक्सर देखा जाता है कि कुछ छात्र ऐसे होते हैं जो पूर्ण साक्षरता प्राप्त किए बिना ही स्कूल छोड़ देते हैं। उन्हें परीक्षा में कई बार असफलता हाथ लगती है जिससे वे शिक्षा के प्रति उदासीन हो जाते हैं। नतीजतन, उनमें उस स्तर तक की शिक्षा जो न इधर की होती है और न उधर की ही, में लगा व्यय बेकार चला जाता है। ऐसे बालकों को साक्षरता के पूर्ण स्तर तक शिक्षा देने के लिए प्रेरित करने के लिए शैक्षिक निर्देशन की नितान्त आवश्यकता है। रिली (1985) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह बतलाया है कि शैक्षिक निर्देशन की आवश्यकता ऐसे छात्रों को एक सामान्य छात्र की तुलना में काफी अधिक है।

12.5 निर्देशन की विधियाँ (Methods of Guidance)

निर्देशन की कई विधियाँ हैं जिन्हें मुख्यत: दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) व्यक्तिगत निर्देशन की प्रविधि

(2) सामूहिक निर्देशन की प्रविधि

12.5.1 व्यक्तिगत निर्देशन की प्रविधि

इस विधि में मापन व्यक्तिगत आधार पर किया जाता है यानि निर्देशन व्यक्तिगत स्तर पर सम्पर्क स्थापित करता है। इस विधि के अन्तर्गत कई विधियों का प्रयोग होता है जो निम्नलिखित हैं–

1. साक्षात्कार–साक्षात्कार एक ऐसी विधि है जिसमें निर्देशन देने वाला व्यक्ति छात्र से सीधा सम्पर्क स्थापित करता है, छात्र की विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों को पूछ कर उसके बारे में छात्र को उसी के अनुरूप परामर्श देता है जिससे छात्र की समस्याओं का हल बड़ी आसानी से हो जाता है। साक्षात्कार कई प्रकार से किया जा सकता है–

2. बुद्धि परीक्षण–बुद्धि परीक्षण के आधार पर छात्र के बौद्धिक स्तर का पता लगा लेते हैं तथा उसी के अनुरूप उसे पाठ्यक्रम का चुनाव करने को कहा जाता है। इससे शिक्षकों को भी पढ़ाने में सहायता मिलती है, इसके अलावा अन्य कई परीक्षणों का भी उपयोग किया जाना चाहिए ताकि सम्पूर्ण निर्देशन न सम्भव हो।

3. रुझान मापन–इस परीक्षण से यह पता चलता है कि छात्र का रुझान किस विषय में है, उसी के अनुरूप कार्य करने से उसे अधिक सफलता मिलेगी, इससे निर्देशन में बड़ी सहायता मिलती है।

4. अभिरुचि मापन–इस परीक्षण के द्वारा छात्र की रुचि तथा अरुचि किस विषय में है यह पता चलता है। तब उन्हें उसी के अनुरूप पढ़ने तथा कार्य करने को कहा जाता है।

5. उपलब्धि-परीक्षण–इस परीक्षण से यह पता चलता है कि छात्र की उपलब्धि किस विषय में कितनी हुई, उनके विषय के चुनाव का निर्देश इसी आधार पर दिया जाता है ताकि वे इस क्षेत्र में सम्यक ज्ञान प्राप्त कर सकें।

6. व्यक्तित्व परीक्षण–इस परीक्षण से द्वारा व्यक्ति के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक अभियोजन के बारे में पता लगाया जाता है, इससे उनको व्यावसायिक निर्देशन में मदद मिलती है।

7. प्रश्नावली विधि–इस विधि का मापन पारिवारिक सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझ कर उन्हें उस शिक्षा में निर्देशन दिया जाता है जो उनके लिए लाभदायक हो।

12.5.2 सामूहिक निर्देशन की विधियाँ

इस प्रकार की विधि में किसी समस्या से सम्बन्धित निर्देशन व्यक्तिगत रूप से नहीं, बल्कि सामूहिक रूप से किया जाता है। समूह बनाते समय यह ध्यान रखा जाता है कि एक समूह में एक खास समस्या के लोग ही हैं, इससे एक समय में कई छात्रों को निर्देश दिया जा सकता है। इसमें एक ओर समय की काफी बचत होती है। समूह निर्देश में निम्नलिखित प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है–

1. साक्षात्कार विधि–इस विधि का प्रयोग समूह निर्देशन में भी किया जाता है, क्योंकि समान समस्या वाले छात्र का पहले ही समूह कर दिया जाता है और बन्द साक्षात्कार के लिए उनकी समस्याओं के बारे में जानकारी हासिल कर उन्हें समुचित निर्देशन दिया जाता है जो उनकी समस्याओं के समाधान में उनकी मदद करते हैं।

2. सामान्य अनुकूल वार्ता–सामूहिक निर्देशन की यह बहुत प्रमुख प्रविधि है। इस विधि के जरिये निर्देशक स्कूल-स्कूल जाकर उन्हें एक साथ बिठाकर कुछ सामान्य बातचीत करते हैं जिससे उन्हें पाठ्यक्रम चुनाव में आसानी तथा समस्याओं के समाधान में मदद मिलती है।

3. मनोवैज्ञानिक परीक्षण–सामूहिक निर्देशन देने में परामर्श दाता विभिन्न तरह के मनोवैज्ञानिक परीक्षण जैसे–बुद्धि परीक्षण, अभिरुचि परीक्षण, अभिक्षमता परीक्षण, उपलब्ध परीक्षण का उपयोग कर छात्रों का एक समाहित आंकड़ा इकट्ठा कर लिया जाता है और उसी के आधार पर छात्रों का निर्देशन किया जाता है। मौरिस (1975) के अनुसार मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से मिलने वाले आँकड़े शैक्षिक निर्देशन की आधारशिला होते हैं।

4. प्रश्नावली–सामूहिक निर्देशन में प्रश्नावली का उपयोग उसी प्रकार किया जाता है जैसे व्यक्तिगत रूप से किया जाता है, इससे तथ्य भी आसानी से मिल जाते हैं तथा उनमें विश्वसनीयता भी अधिक होती है क्योंकि उनका निरूपण एक ही प्रकार से मानक के जरिए किया जाता है तब उन्हें किसी प्रकार का निर्देशन दिया जाता है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है।

5. अनुवर्ती क्रियाएँ–सामूहिक समय-समय पर निर्देशन भिन्न-भिन्न तरीके से दिया जाता है। पर यह देखा जाता है कि उस निर्देशन का उन पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है या उन्हें बाद में भी निर्देशन की आवश्यकता है।

12.6 निर्देशन कार्यक्रम में शिक्षक एवं परामर्शदाता की भूमिका

कहना न होगा कि विद्यालय में चलाए जानेवाले कार्यक्रम की सफलता की मूलभूत कुञ्जी शिक्षक ही

होते हैं। शिक्षक की थोड़ी सी लापरवाही या उदासीनता निर्देशन कार्यक्रम को मटियामेट कर सकती है। शिक्षक ऐसे कार्यक्रमों में एक विशेष परामर्शदाता के रूप में कार्य करते हैं और इनकी भूमिका की निम्नलिखित ढंग से व्याख्या की जा सकती है–

1. स्कूल में दाखिला प्राप्त करने के बाद छात्रों को विषयों का चयन करने में तथा पाठ्यक्रम को समझने एवं स्वीकार करने में काफी कठिनाई होती है। शिक्षक ऐसे छात्रों को निर्देशन देकर उनकी समस्या को हल कर देते हैं।
2. शिक्षक छात्रों को स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के बाद उचित व्यवसाय को चुनने में मदद करते हैं। वे विशेष परामर्श देकर उनकी अर्जित योग्यता एवं उपलब्धि के अनुकूल किसी व्यवसाय में जाने की सलाह देकर समस्या का हल करते हैं। इससे भी शिक्षक की अहमियत निर्देशन कार्यक्रम में बनी रहती है।
3. शिक्षक की अहमियत निर्देशन कार्यक्रम में इसलिए भी होता है क्योंकि शिक्षक छात्रों की अभिरुचि, बुद्धि, अभिक्षमता एवं उपलब्धि की मदद करके स्वयं छात्रों को भी उससे अवगत कराते हैं और साथ-साथ उन्हें उचित दिशा निर्देश देकर उन्हें एक सफल नागरिक बनने में मदद करते हैं।
4. शिक्षक की अहमियत निर्देशन कार्यक्रम में इसलिए भी है क्योंकि शिक्षक छात्रों की समायोजनशीलता की क्षमता का मापन कर उन्हें वातावरण में ठीक ढंग से समायोजन करने के तरीकों को बताते हैं।
5. निर्देशन कार्यक्रम में छात्रों के बारे में कुछ विशेष व्यक्तिगत आँकड़ों की जरूरत होती है। जैसे उनके माता-पिता की शिक्षा, आय, व्यवसाय भाई-बहनों की संख्या, किसी बीमारी का इतिहास, विशिष्ट शौक, अभिरुचि आदि की नितान्त आवश्यकता होती है, क्योंकि इन सूचनाओं के अभाव में कोई भी निर्देशन कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता। शिक्षक इन विशेष सूचनाओं को एकत्र करके निर्देशन कार्यक्रम को सफल बनाने में सक्रिय योगदान करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि शिक्षक की अहमियत किसी निर्देशन कार्यक्रम में कई कारणों से अधिक है।

12.7 निर्देशन एवं परामर्श के संबंध में कोठारी आयोग (Kothari Commission) की कुछ प्रमुख सिफारिशें

कोठारी शिक्षा आयोग का मत है कि निर्देशन एवं परामर्श को शिक्षा का आवश्यक अंग बना देना चाहिए और शिक्षकों को चाहिए कि वे प्रत्येक छात्र को अपनी समस्याओं के समाधान में विशेष निर्देशन एवं परामर्श दें ताकि उन्हें समायोजन संबंधी किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं हो। कोठारी शिक्षा आयोग की प्रमुख सिफारिशों में निम्नांकित प्रमुख हैं–

1. एक ऐसे निर्देशन ब्यूरो की स्थापना की जानी चाहिए जो निर्देशन एवं परामर्श संबंधी कार्यक्रमों में लगे व्यक्तियों या शिक्षकों को पर्याप्त प्रशिक्षण दे सके।
2. निर्देशन एवं परामर्श की शुरुआत प्राथमिक विद्यालय के स्तर से ही प्रारंभ कर देनी चाहिए। इसलिए शिक्षक या अन्य लोग जो इन कार्यों से संबंधित है, उन्हें पर्याप्त प्रशिक्षण दे देना चाहिए ताकि वे बालकों को समुचित निर्देशन एवं परामर्श देकर उन्हें सही रास्ते पर रख सकें।
3. कोठारी शिक्षा आयोग ने उच्चतर माध्यमिक स्तर पर भी निर्देशन एवं परामर्श का सुझाव दिया है। आयोग का मत है कि प्रत्येक 10 माध्यमिक विद्यालय के ऊपर एक स्कूल परामर्शदाता की नियुक्ति की जानी चाहिए जिसका मुख्य कार्य छात्रों की विभिन्न तरह की समस्याओं के निराकरण के बारे में उचित परामर्श देना हो। इस कार्य में उन्हें स्कूल के शिक्षकों एवं प्राचार्यों से पर्याप्त मदद मिलनी चाहिए।

4. निर्देशन एवं परामर्श संबंध अच्छे साहित्य का निर्माण किया जाना चाहिए ताकि परामर्शदाता एवं निर्देशक को कभी किसी प्रकार की दिक्कत अपने कर्त्तव्यों को निभाने में न हो सके।

उपर्युक्त सिफारिशों से स्पष्ट है कि निर्देशन एवं परामर्श को शिक्षा से जोड़ने के लिए सरकार द्वारा की गई कोशिश या दिखाई गई तत्परता काफी सराहनीय है।

12.8 सारांश

निर्देशन वह प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपनी योग्यताओं एवं सीमाओं को ध्यान में रखते हुए अपनी समस्याओं के साथ समायोजन स्थापित करता है। इसके लिए उसे कभी-कभी किसी सलाहकार अथवा परामर्शदाता की मदद ली जाती है। निर्देशन के मुख्य तीन प्रकार होते हैं, जिन्हें व्यक्तिगत निर्देशन, व्यावसायिक निर्देशन तथा शैक्षिक निर्देशन कहते हैं। व्यक्तिगत निर्देशन में व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान का मार्ग दर्शन किया जाता है। व्यावसायिक निर्देशन में व्यवसाय के चयन का निर्देशन व्यक्ति की योग्यता के अनुकूल दिया जाता है। इसी प्रकार शैक्षिक निर्देशन में शिक्षा से संबंधित बालकों की शिक्षा-व्यवस्था की सलाह दी जाती है। इन तीनों प्रकार की निर्देशन के अपने-अपने महत्व हैं। विशेष रूप से शिक्षा के क्षेत्र में निर्देशन के कई महत्व या योगदान हैं जैसे पाठ्यक्रम में मदद करना, अपनी अन्तःशक्तियों को पहचानने में बालकों की सहायता करना, अच्छी आदतों के निर्माण में मदद करना, इत्यादि। निर्देशन के लिए कई विधियों का उपयोग किया जाता है। इनमें व्यक्तिगत निर्देशन विधि तथा सामूहिक निर्देशन विधि महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्तिगत विधि में व्यक्ति इतिहास विधि, साक्षात्कार विधि, बुद्धि परीक्षण आदि मुख्य हैं। सामूहिक विधि के अन्तर्गत सामूहिक साक्षात्कार, प्रश्नावली, मनोवैज्ञानिक परीक्षण आदि मुख्य हैं। निर्देशन कार्यक्रम को सफल बनाने में शिक्षक सलाहकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। बालकों की बुद्धि, अभिरुचि, अभिक्षमता, उपलब्धि आदि योग्यताओं को मापने तथा उनके अनुकूल वर्ग में नामांकन की सलाह देना शिक्षक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। यह कार्य एक निपुण शिक्षक के बिना संभव नहीं हो पाता है। इसी प्रकार उचित विषयों के चयन करने में भी शिक्षक सलाहकार सहायक होते हैं। फिर बालकों के माता-पिता को भी शिक्षक आवश्यक सलाह देकर उनकी शिक्षा को सफल बनाने में मदद करते हैं। कोठारी आयोग की सिफारिशों में स्पष्ट रूप से शैक्षिक निर्देशन के महत्त्व की चर्चा की गयी है तथा शिक्षक सलाहकार की भूमिका के महत्त्व पर बल दिया गया है।

12.9 पाठ के प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

समायोजन, बुद्धिमत्ता, संवेगात्मक, अभिक्षमता, अनुकूल वार्ता, परामर्शदाता, उपयोगिता, सामग्रियाँ, दुर्बलता, व्यावसायिक, निर्देशन, निर्बलता, व्यवसायमुखी, प्रशिक्षण, प्रश्नावली, मनोविश्लेषण, पारिवारिक, मनोचिकित्सा, समायोजित, समायोजक संरचना, निर्देशकर्त्ता, रूझान मापन, उपलब्धि परीक्षण, प्रविधियाँ, बुद्धिपरीक्षण, अभिरुचि परीक्षण, क्षतिपूर्ति, शैक्षिक निर्देशन, रोजगारोन्मुखी, वाणिज्य।

12.10 अभ्यास के प्रश्न

12.10.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **शैक्षिक निर्देशन से आप क्या समझते हैं ?**
   उत्तर–देखें 12.1

2. **शैक्षिक निर्देशन के प्रकारों को लिखें।**
   उत्तर–देखें 12.2
3. **व्यक्तिगत निर्देशन की प्रविधियों से आप क्या समझते हैं ? वर्णन करें।**
   उत्तर–देखें 12.5.1
4. **शिक्षा में निर्देशन की उपयोगिता का वर्णन करें।**
   उत्तर–देखें 12.3

12.10.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. **निर्देशन कार्यक्रम में शिक्षक एवं परामर्शदाता की भूमिका का वर्णन विस्तारपूर्ण ढंग से करें।**
   उत्तर–देखें 12.6
2. **निर्देशन एवं परामर्श से सम्बन्धित कोठारी आयोग की सिफारिशों को विस्तारपूर्ण ढंग से समझाएँ।**
   उत्तर–देखें 12.7
3. **शैक्षिक निर्देशन से आप क्या समझते हैं ? इसकी विशेषता एवं उपयोगिता का वर्णन करें।**
   उत्तर–देखें 12.1, 12.3

12.11 प्रस्तावित पाठ

1. ए० के० सिंह : **शिक्षा मनोविज्ञान**
2. एस० एस० माथुर : **शिक्षा मनोविज्ञान**
3. रसतोगी : **शिक्षा मनोविज्ञान**
4. Skinner, C. E. : **Essentials of Educational Psychology**

◆◆◆